RASTRIYA NAVJAGRAN : HINDI AUR URDU GAZAL KA TULNATMAK ADHYAYAN

UNIVERSITY GRANTS COMMISSION, NEW DELHI SPONSORED MAJOR RESEARCH PROJECT FINAL REPORT

DR. DURGESH NANDINI

PRINCIPAL INVESTIGATOR
DEPARTMENT OF HINDI
UNIVERSITY COLLEGE OF ARTS & SOCIAL SCIENCES
OSMANIA UNIVERSITY, HYDERABAD-500 007
ANDHRA PRADESH

AUGUST 2013

राष्ट्रीय नवजागरण : हिन्दी और उर्दू ग़ज़ल का तुलनात्मक अध्ययन

राष्ट्रीय नवजागरण : हिन्दी और उर्दू ग़ज़ल का तुलनात्मक अध्ययन

राष्ट्रीय नवजागरण : हिन्दी और उर्दू ग़ज़ल का तुलनात्मक अध्ययन

1. राष्ट्रीय नवजागरण का इतिहास
2. गज़ल की प्रकृति एवं उसका स्वरूप
3. उर्दू ग़ज़लों का स्वरूप
4. हिन्दी और उर्दू ग़ज़लकार
5. उर्दू ग़ज़ल एवं हिन्दी ग़ज़ल : समता एवं विषमता के धरातल

राष्ट्रीय नवजागरण का इतिहास

परम्परागत भारतीय धारणा :

अंग्रेजी के "नेशन" (Nation) शब्द की उत्पत्ति लेटिन के नासियों (Natio) शब्द से हुई है जिसका अर्थ है "जन्म" या "जाति" । पर इसका मतलब यह नहीं है कि राष्ट्रीयता और जातीयता की धारणाएँ एक हैं । सत्रहवीं शती में "नेशन" शब्द का उपयोग किसी राज्य की उस आबादी को व्यक्त करने के लिए किया जाता था जिसमें जातीय एकता पायी जाती थी । बनर्ड जोजेफ़ का कहना है कि यह अर्थ अधिकांश अर्थ में आज भी कायम है। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के समय से "नेशन" शब्द बहुत लोकप्रिय हो गया और उसका उपयोग देश भक्ति (Patriotism) के अर्थ में किया गया । राष्ट्रीयता उन दिनों एक सामूहिक भावना थी ।

उन्नीसवीं शती से "नेशन शब्द" और "नेशनेलिटी" (राष्ट्रयता) शब्दों के निश्चित अर्थ हो गया है । नेशन या शब्द द्वारा राजनीतिक स्वाधीनता अथवा प्रभुता का आदर्श - चाहे वह प्राप्त हो या इच्छित – प्रकट होता है । इसके विपरीत राष्ट्रीयता (Nationality) अधिकार एक अराजनीतिक धारणा है और विदेशी शासन में भी उसका अस्तित्व रह सकता है । राष्ट्रीयता एक मनोवैज्ञानिक गुण है । यद्यपि उसका उपयोग बहुधा नैतिक एवं सांस्कृतिक धारणा को भी व्यक्त करने के लिए किया जाता है । इस अर्थ में व्याख्या करने पर "राष्ट्र" और "राष्ट्रीयता" दोनों एक रूप धारणाएँ नहीं है । स्वयं अपना शासन करने वाले एक राज्य की जनता के अर्थ में "राष्ट्र" के भीतर अनेक राष्ट्रीय हो सकती है । उदाहरणार्थ यद्यपि ब्रिटेन एक राष्ट्र है, फिर

भी उसके पास विभिन्न राष्ट्रिकताएँ अंग्रेज, स्कांव वेल्स और उत्तरी आयरिश शामिल है । जैसे ही कोई एक राष्ट्रीकता राजनीतिक एकता और सम्प्रभुता सम्पन्न स्वतंन्त्रता पा लेती है वैसे ही वह राष्ट्रिकता एक राष्ट्र बन जाती है ।

विचारक इस बात पर सहमत है कि राष्ट्रिकता मूलत: एक मानसिक प्रवृत्ति या भावना है । ए.इ. जिमर्न लिखते हैं : धर्म की तरह राष्ट्रिकता भी आत्मक (Subjective) है मनोवैज्ञानिक है, मन की एक अवस्था है, एक आध्यात्मिक धारणा हैं, भावना की, विचार का और जीवन का एक तरीका है।

"Nationality like Religionm is subjective, psychological, a condition of mind, a spiritual possession, away of feeling thinking and living".

कुछ विचारकों का मत है कि राष्ट्रिकता एक सहज प्रवृत्ति है । जे.एच. रोज राष्ट्रिकता की परिभाषा इस प्रकार करते हैं : दिलों की एक ऐसी एकता जो एक बार बन कर कभी न बिगड़े (A unique of hearts once made, never unmade) राज्य तत्वत: राजनीतिक होता है, राष्ट्रिकता प्रधान रूप से सांस्कृतिक होती है और केवल संयोगवश राजनीतिक हो जाती है ।

पश्चिमी दुनिया में काफी अर्से से धर्म राष्ट्रिकता का तत्व नहीं रह गया है । किन्तु पूर्व में विशेषकर भारत में, धर्म अब भी एक शक्ति है । राष्ट्रिकता के लिए भोगोलिक एकता अर्थात् स्वदेश (Home Land) जरूरी है। हर मानव के हृदय में अपनी जन्मभूमि के प्रति आगाध प्रेम होता है ।

आधुनिक राष्ट्रीयता के आध्यात्मिक जन्मदाता मैजिनी ने लिखा है हमारा देश हमारा घर है, वह घर जो परमात्मा ने हमें दिया है, जिसमें उसने अनेक परिवार रखे हैं जो परिवार हमें प्यार करते हैं और जिन परिवारों को हम प्यार करते हैं ।

हमारा देश हमारी कर्मशाला है जहाँ से हमारे श्रम का उत्पादन पूरे संसार के लाभ के लिए बाहर भेजा जाता है ।

भारत हमारी जन्मभूमि है, पुण्य भूमि है, और मातृभूमि के हर पुत्र का यह कर्तव्य है कि वह अपने देश को ऐसा बनाये उसका ऐसा विकास करें कि लोगों को अपने देश, उसकी स्वाधीनता और उसकी उन्नति के प्रति उत्साह हो । भारत की आकृति, उसका स्वरूप, उसका सौन्दर्य, उसकी नदियाँ, उसका रेगिस्तान, उसकी वनस्पतियाँ एवं उसके पशु इन सबसे भारत के हर पुरुष, स्त्री और बच्चे को परिचित होना चाहिए । देशाटन और यात्रा को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। आम जनता के लिए देश के सभी हिस्सों की यात्रा का प्रबन्ध होना चाहिए । संचार माध्यमों के द्वारा एक राष्ट्र का निर्माण करना चाहिए । राजनीति हमें विभाजित करती है, धर्म हमारे बीच दीवार खड़ी करता है, संस्कृति हमें टुकड़ों में बांटती है, पर हमारा देश और देश की धरती का प्यार हमें एक सूत्र में बाँध सकता है ।

राष्ट्रीय साहित्य, शिक्षा, संस्कृति और कला, राष्ट्रिकता के कारण और परिणाम दोनों ही हो सकते हैं, यद्यपि राष्ट्रीय साहित्य स्वयं राष्ट्रिकता का निर्माण नहीं करता फिर भी वह राष्ट्रिकता की भावना को मज़बूत अवश्य ही बना सकता है, राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रीय परम्पराओं का सृजन करता है, उन्हें जीवित रखता है और देश में राष्ट्रीय साहित्य के प्रति प्रेम भर देता है । इन सब कारणों से राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रिकता की भावना के विकास में

महत्वपूर्ण योग देता है । राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रीय परम्पराओं के प्रसारण का माध्यम है, राष्ट्र के लोग राष्ट्रीय साहित्य पर गौरव रखते हैं और उस पर श्रद्धा रखते हैं ।

राष्ट्र और राष्ट्रीयता की भावना सर्वोच्च होती है । राष्ट्र और राष्ट्रीयता जीवन के सभी तत्वों में सर्वोपरि है । साहित्य की वह चीज है जो हमें राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता के महत्व को बतलाता है । महान् चिन्तक, विचारक, दर्शनिक, संत, साहित्यकार, सभी ने एक स्वर से हमें राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाया है एवं राष्ट्रीयता का अमोघ मंत्र दिया है ।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम : एक सामान्य सर्वेक्षण

अंग्रेज विद्वानों का मत है कि भारत में राष्ट्रीयता की भावना का उदय पूर्णतया अंग्रेजी शासन की ही देन है । हमेशा से ही भारत विभिन्न भाषाओं, जातियों, रीति-रिवाजों, धर्मों, विचार धाराओं और राजनीतिक विविधताओं का देश रहा है, जिसकी तुलना अक्सर ही अजायब घर में की गई है, अतः ऐसी परिस्थिति में, ऐसे देश में, ऐसे परिवेश में राष्ट्रीय भावना के होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है । इस तरह भारतीय राष्ट्रीय भावना की शुरूआत अंग्रेजी शासन व्यवस्था के कारण ही हुआ, ऐसा विचार पूर्णतः अमान्य है ।

वस्तुतः भारत की एकता इसकी अनेकता में ही है । भारत में पूर्णतः धर्म निरपेक्षता की छाप है । विभिन्न विचार धाराओं के अन्तर्गत विभिन्न धर्म, भाषाएँ, रीति-रिवाज आदि कायम है । फिर भी भारत अपने मूल स्वरूप में ही कायम है । भारतीय स्वतंत्रता संग्राम इन्ही अनेकताओं के बीच में लड़ी गई और आखिरकार आजादी हासिल की गई । राजनीतिक दृष्टि से विभक्त होते हुए भी सांस्कृतिक आधार पर भारत में मूलतः एकता

अनिवार्य रूप से रही है । वैदिक धर्म, संस्कृत भाषा, हिन्दू रीति रिवाज, वेश-भूषा और आचार विचारों की समानता ने ही भारत को एकता प्रदान की है । मुस्लिम सम्प्रदाय भी भारत में इतना धुल मिल गया था कि जब तक अंग्रेजों ने हिन्दू और मुसलमानों के अन्तर को नहीं उकसाया तब तक भारतीय मुसलमान किसी अलग राज्य की कल्पना तक नहीं कर सके थे ।

भारत में राष्ट्रीय भावना का विकास सदियों से है लेकिन वह भावना संगठित नहो सकी है ब्रिटिश शासन काल में ही, और इसी के अन्तर्गत भारत में राजनीतिक आन्दोलन का सूत्रपात भी हुआ ।

भारतीय प्रेम और समाचार पत्रों ने राष्ट्रीयता के विकास में बहुत सहयोग दिया । समाचार पत्रों के अलावा भारतीय साहित्य ने भी राष्ट्रीयता के विकास में पर्याप्त सहयोग दिया । बंकिम चन्द्र ने "आनन्द मठ" और "बन्देमातरम" की रचना की जिसमें न केवल बंगाल बल्कि भारत में क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद की ओर लोगों को अग्रसर किया । राजा राम मोहन राव भारतीय प्रेस के जन्मदाता थे जिन्होंने 1821 में "सम्वाद कौमुदी" का प्रकाशन किया था । बाद में केशवचन्द्र सेन, गोखले, तिलक, फिरोजशाह मेहता, दादा बाई नौरोजी, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, सी.वाई, चिन्तामणि, रासबिहारी घोष, गाँधी, नेहरू, भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाषचन्द्र बोस, राजेन्द्र प्रसाद, मौलाना अब्दुल कलाम आजाद, बिनोबा भावे, मोहम्मद अली जिन्ना, सर सैयद अहमद खाँ, इत्यादि ने बिना किसी भेद-भाव के राष्ट्र के खातिर काम किया था ।

इससे पहले एक शक्तिशाली जन विद्रोह 1857 में उत्तर और मध्यभारत में भड़क उठा जिसमें अंग्रेजी साम्राज्य को लगभग खत्म सा कर दिया । इस जन विद्रोह में बड़ी संख्या में लाखों किसान, दस्तकार और

सैनिक बुहत ही बहादुरी से लड़ते रहे और भारतीय इतिहास में एक नया गौरवपूर्ण अध्याय लिखा ।

वस्तुतः 1857 का विद्रोह सिपाहियों के असन्तोष की उपज मात्र नहीं था, बल्कि अंग्रेजी प्रशासन के खिलाफ जनता की संचित शिकायतों और अंग्रेजी राज के प्रति उनकी नापसंदगी का ही परिणाम था । अंग्रेज़ों ने भारत का पूर्णतः आर्थिक शोषण किया था और यहाँ की अर्थव्यवस्था को ध्वस्त किया था । इतिहास कारों और लेखकों के एक समूह ने दावा किया है कि 1857 का विद्रोह एक व्यापक और सुसंगठित षड्यन्त्र का परिणाम था। नानासाहब और फैजाबाद के मौलवी अहमदउल्ला इस षड्यंत्र में प्रमुख भूमिका अब कर रहे थे । विद्रोह का दायरा जितना बड़ा था उतनी ही उसकी जड़ें भी मजबूत थी । विद्रोह की अधिकांश शक्ति हिन्दू मुसलमान एकता में निहित थी । सैनिकों, जनता और नेताओं के बीच पूर्ण हिन्दू-मुसलमान एकता थी । सभी विद्रोहियों ने बहादुर शाह को बादशाह माना, जो एक मुसलमान था । हिन्दू और मुसलमान विद्रोहियों ने एक दूसरे की भावना का आदर किया । नेतृत्व में हिन्दुओं और मुसलमानों का समान प्रतिनिधित्व था ।

1857 के विद्रोह के मुख्य केन्द्र दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, बरेली, झांसी और आरा (बिहार) थे । दिल्ली में बादशाह बहादुरशाह नाममात्र और प्रतीकात्मक नेता था, परन्तु वास्तविक नेतृत्व सैनिकों की परिषद् के हाथों में था जिसका प्रधान जनरल बख्त खाँ था । बख्त खाँ ने बरेली के सैनिकों के विद्रोह का नेतृत्व किया था । बख्त खाँ सर्व-साधारण का प्रतिनिधि था ।

कानपुर में विद्रोह का नेतृत्व अन्तिम पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब ने किया । नाना साहब की ओर से लड़ने की मुख्य

जिम्मेदारी तांथ्या टोपे के कंमधे पर थी, अहमदउल्ला, नाना साहब का एक सेवक था । वह राजनीतिक प्रचार में सिद्धहस्त था ।

लखनऊ में विद्रोह का नेतृत्व अवध की बेगम ने किया । उसने अपने छोटे बेटे, बिरजिस कादर को अवध का नवाब घोषित कर दिया था ।

अठारह सौ सन्तावन के विद्रोह की एक महान् नेता तथा भारतीय इतिहास की शायद महानतम वीरांगना झांसी की रानी लक्ष्मी बाई थी ।

कुँवर सिंह आरा के नजदीक जगदीशपुर का एक असन्तुष्ट जमींदार थे । वह बिहार में विद्रोह का मुख्य नेता थे । यद्यपि वह करीब 80 वर्ष का बूढ़ा था तथापि विद्रोह का शायद सबसे महान सैनिक नेता तथा युद्ध कौशल के जानकार थे । वह अंग्रेजों से बिहार में लड़े और बाद में, नाना साहब की सेनाओं के साथ मिलकर उसके अवध और मध्य भारत में अभियान चलाए ।

फैजाबाद के मौलवी अहमद उल्ली विद्रोह का एक अन्य महान् नेता थे। वह मद्रास का रहने वाला था जहाँ उसने सैनिक विद्रोह का उपदेश देना शुरू किया था, जनवरी 1857 में वह उत्तर भारत में फैजाबाद की ओर बढ़ा जहां उसने ब्रिटिश सैनिकों की एक टुकड़ी के साथ लड़ाई की । मौलवी अहमद हल्ला की देश भक्ति, बहादुरी और सैनिक योग्यता की काफी तारीफ अंग्रेज इतिहासकारों तक ने की है ।

इन सबके बावजूद विद्रोह के सबसे बड़े नायक के सिपाही थे जिनमें से अनेक ने लड़ाई के मैदान में महान् साहस दिखाया तथा उनमें से हजारों ने अपने जीवन की नि:स्वार्थ बलि चढ़ायी । सबसे ऊपर उनका दृढ़ संकल्प एवं बलिदान था । जिसके फलस्वरूप अंग्रेजी को भारत से लगभग निकाल

बाहर किया । इस देश भक्ति पूर्ण संघर्ष में उन्होंने अपने घोर धार्मिक पूर्वाग्रहों को त्याग दिया ।

इस तरह 1857 का विद्रोह एक विशाल क्षेत्र में फैल गया और उसे जनता का समर्थन हासिल हुआ यद्यपि यह विद्रोह शत प्रतिशत सफल नहीं हो सका फिर भी विद्रोह व्यर्थ भी नहीं गया । यह विद्रोह जिसे हम जंगे आजादी का पहला जंग कहते हैं हमारे इतिहास में एक गरिमामय युगान्तकारी घटना है । इस विद्रोह ने आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के लिए मार्ग प्रशस्त किया । 1857 के वीरता और देश भक्तिपूर्ण संघर्ष ने भारतीय जनता के दिमाग पर एक अविस्मरणीय छाप छोड़ी और उसके बाद के स्वतंत्रता संग्राम में शाश्वत प्रेरणा का काम किया ।

इस तरह देखा गया कि जंगे आजादी में तमाम मुल्क की जनताओं ने हिस्सा लिया । आजादी के खातिर धर्म, सम्प्रदाय, जाति ऊँच-नीच का कोई बन्धन नहीं था । आजादी की लड़ाई में भाषा भी बाधक तत्व नहीं बनी, बल्कि विभिन्न भाषा-भाषियों ने मिलजुल कर देश को आजाद कराने में अपने सर्वस्व समर्पित किया । देश की आजादी में हिन्दू-मुसलमान सिख-ईसाई का प्रश्न नहीं उभरा सभी भारतीय होकर आये और भारतीय होकर लड़ाई में हिस्सा भी लिया ।

नवजागरण का महत्व :

पुनर्जागरण पुन: जागने का अर्थ लेकर चलता है । यूरोप में शिक्षा के इस जागरण का काल उत्तर-मध्य काल के बाद उभरा । दाँते तथा चौसर इस जागरण युग के अग्रदूत रहे हैं । जैसा कि विद्वान लोग भी कहते हैं – पुनर्जागरण ख्य़ाति और प्रतिष्ठा का परिदृश्य था । दरअसल इसने साहित्य के हृदय में अभिव्यक्ति की सुंदरता प्राप्त की । विद्वान इसका आविर्भाव

इटली से भी मानते हैं । ग्रीक साहित्य और उनके विद्वान इटली साहित्य के संपर्क में इसी वजह से आये । कहा यह भी जाता है कि लोग मध्यकाल में अपने पूर्व पेशे से हटने लगे थे। धरती के जीवन में जन्म और मृत्यु तथा दूसरी सुंदर दुनिया के प्रकाश में आने के लिए लोग ऐसा करने लगे । आर्थर सिमंड्स को उद्धृत करते हुए हम कहेंगे कि "फूल ने अपनी चमक एथेंस से उधार ली जैसा कि सूर्य से परावर्तित होकर चाँद किरणों के साथ चमक बिखेरता है ।

इसी समय होमर के ग्रीक साहित्य का अनुवाद किया गया । इसी तरह प्लेटो तथा अरस्तू के भी कार्यों का अनुवाद किया गया । इटली मेंम नव-जागरण उन साहित्यकारों द्वारा लाया गया जो अपनी कृतित्व में उत्कृष्ट थे । यूरोप में मुझे सेंट पीटर्सबर्ग जाने का सौभाग्य मिला । वहाँ मैंने ऐतिहासिक गिरिजाघर भी देखा । वह पहला गिरिजाघर है जो पीटर की महान कहानियों में प्रसिद्ध है । इसे देख और छूकर मैं बहुत प्रसन्न हुई । इस पूरे सजावट का मुख्य विषय है मनुष्य के द्वारा किये गये पापों से मुक्ति, जिसे ईसा मसीह ने प्राप्त किया था । इसे कलाकार कॉर्डिनल जीन दी विले ने 1448 में बनाया था । उस समय वह कलाकार मात्र 25 वर्ष का था और रोम में उसे आये हुए कुछ ही दिन बीते थे ।

कहा यह जाता है कि पीटर का मॉर्वल समूह दैवीय दृष्टि से प्रतीकात्मक गुण लिए रहता है । यह पंद्रहवें दशक की एक सुंदर कलाकृति है । निश्चित रूप से यह इस विषय की बची हुई कृति है जो पहले से ही गोथिक परंपरा मूर्तिकला में मौजूद थी ।

कुछ विद्वान कहते हैं कि "नवजागरण ने मध्यकालीन यूपोप के इतिहास में एक नया मार्ग प्रशस्त किया । मध्यकालीन कला में, ईश्वर को

बिना किसी अवगुण वाला मनुष्य रूप में दर्शाया गया । अब हम भारत की ओर आते हैं । हम असमिया कला का अध्ययन यूरोपीय दृष्टि से करते हैं । असम मों हम माधव कंदली के रामायण मं भी एक प्रकार की आजरुकता देखते हैं जिसे कामदा रामायण के नाम से भी जाना जाता है । यह 14 वीं शताब्दी में लिखा गया । यह पहली रामायण है जो आधुनिक भारतीय भाषाओं में लिखा गया । यह (रामायण) आप लोगों की भाषा में लिखा गया है । माधव कंदली को बारही या तिब्बती-बर्मी राजा ने चित्रांकित किया था । इस रामायण का कवि राजा राम को ब्रह्मा या विष्णु के अवतार के रूप में नहीं देखना चाहता था जो अपने संपूर्ण जीवन अपने विषयों के लिए न्योछावर कर देता है, अपितु वाल्मीकि रामायण का 109वाँ कांड जो एक महत्वपूर्ण भाष्य है, कंदली के रामायण में बहुत ही उत्तेजित ढंग से प्रतिध्वनित हुआ है । यह वाल्ममीकि रामायण के अयोध्या कांड का पाठ है जहाँ राम भरत से प्रश्न करते हैं कि, "आप मुझे बाहर से अंदर कब लाएँगे अर्थात् यह वन-गमन कब खत्म करेंगे ।" यह व्यावहारिक प्रश्न राम भरत से पूछते हैं, "हे भरत ! आप मेरी अनुपस्थिति में अयोध्या पर राज कर रहे हैं ? क्या आप मेरे जैसा उपयुक्त मंत्री हजारों उम्मीदवारों में भी पा सके हैं ? जब गरीब और अमीर आदमियों में तनाव चल रहा हो तो क्या आप अमीर आदमी का पक्ष लेते हैं ? याद रखिए, गरीब आदमी का आँसू बिना किसी आपराधिक क्षति के भी दर्द करता है । आपका पूरा राज्य और वंश इससे प्रभावित होता है ।"

इस रामायण में हम एक स्त्रीवादी सीता को भी पाते हैं, जो राम के सामने गरज कर बोलती है । अग्नि-परीक्षा के बाद जब राम ने सीता से कहा कि उन्होंने सीता की रक्षा की और उसे वापस लाए । इस कार्य के

द्वारा उन्होंने (राम ने) मात्र अपने वंश की इज्जत बचाई । वह मुक्त है, हनुमान, विभीषण या सुग्रीव में किसी को चुन सकती है . . . .

तब सीता गरजते हुए कहती है, "हे राम ! तुम मेरे साथ अशोभनीय व्यवहार कर रहे हो ।" यहाँ तक कि अयोध्या के महिलाओं के दल ने भी राम के इस वक्तव्य और व्यवहार को ठीक नहीं माना । सुमंत जो कि राजा दशरथ के प्रधानमंत्री थे, राम को वनगमन से वापस लाने में असफल रहे । वे राम पर गरज पड़े और बोले - हे राम ! आपने भरत से घूस लिया है इसलिए वापस नहीं आ रहे हो । यहाँ तक कि अनुवाद में भी माधव कंदली ने नयी तकनीक का आविष्कार किया है । इस प्रकार के कथन कि, "रस के प्रकार अनंत हैं, पक्षी अपने पंखों की ताकत के अनुसार पड़ती है, कवि अपनी कल्पना या कभी-कभार दूसरों की कल्पना से उड़ान भरते हैं ? " ये सांसारिक शब्द है, भगवान के नहीं, उनके प्रत्युत्तर की सराहना की जानी चाहिए । दिलचस्प है कि कंदली का रामायण उस समय लिखा गया जब यूरोप में नव-जागरण की शुरुआत ही हुई थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में असमिया के साहित्यिक क्षेत्र में नयी तरंग को शुरुआत हुई । बेज बरुआ, पद्मावती गोसाई बरुआ तथा अन्य लेखकों के कार्यों से भी इसमें बहुत वृद्धि हुई । इस काल के असमिया साहित्य में नव-स्वच्छंतावाद (रोमांटिसिज्म) के प्रभाव देखने को मिलते हैं । उस काल के भारतीय साहित्य में भी यही रुझान परिलक्षित होता है ।

यदि नवजागरण से तत्पर्य कला के पुनर्जीवन से लेते हैं, तब असम में इसका योगदान वैष्णव संत शंकरदेव को जाता है, जिन्होंने 15वीं सदी में भागवत के आधार पर वैष्णव आंदोलन चलाया ।

शंकरदेव की रचनाएँ जिसे उन्होंने वैष्णव आंदोलन के प्रचार के लिए रचा था वह भागवत पर आधारित थी । शंकरदेव ने इस एक अंक के नाटक का आधार भरत के नाट्य शास्त्र से लिया था । उन्होंने पूरी तरह से इन नाटोकं की संरचना को पुनर्निर्मित किया । इसके मूल में रामायण, महाभारत और पुराण थे।

15वीं शती की इन रचनाओं का अनुवाद करते हुए स्वर्गीय डॉ.दशरथ ओझा और श्री जगदीश चंद्र माथुर ने अपने नाट्य निबंधों में इनकी चर्चा करते हुए कहा है कि उस समय जब पारंपरिक नाटक मुख्य भूमि से हट गये थे । शंकरदेव ने सुदूर पूर्वोत्तर राज्य में इस नाट्य परंपरा को जीवित रखा ।

शंकरदेव ने नाटक के उन दृश्यों का चित्रांकन किया जबकि यूरोप में 17वीं शती के उत्तरार्थ में उस तरह के चित्रांकन (पेंटिंग) किये गये थे ।

आइये अब बंगाल की तरह झुकाव करते हैं । मुझे बंगाल नवजागरण के कुछ प्रकाशनों की जानकारी है । श्री अतुलदास गुप्ता ने बंगाल नवजागरण पर एक बहुत अच्छी पुस्तक संपादित की है । उस पुस्तक का नाम है, "स्टडीज इन बंगाल रेनेसाँ" । इस पुस्तक में वे कहते हैं, 'बंगाल नवजागरण' में 'नवजागरण' शब्द सीधे यूरोपीय नवजागरण से उधार नहीं लिया गया है, जिसके अंत को यूरोपीय लोग अंधा युग कहते हैं, जब ग्रीक-रोमन सभ्यता अपने पूर्व गिरावट पर थी । किंतु अलग या लगभग समान बातें उसी नाम से की जाती हैं । यह बहुत ही ख़राब या भ्रमित करने वाला होगा, यदि इस तरह के नामों की समानता अपनी खुशी के लिए हम पाने की कोशिश करते हैं और ऐसी कोशिशें शायद ही गहरायी तक जाती है । वास्तविक समानता महान यूरोपियन और पैरोकियल बंगाल के बीच उनके

कारणों से बड़ी मुश्किल से ही स्थापित या विकसित हो पाती हैं । यह कहा जा सकता है कि साहित्य की खोज और सांस्कृतिक रचनाएँ ग्रीक तथा ग्रीक-रोमन युग की, उनके आपसी संबंध चैंकने वाले थे, जहाँ से यूरोपियन नव-जागरण प्रारंभ हुआ । उसी तरह, भारत के अधिकांश भागों पर अंग्रेजों द्वारा विजय और ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यवसाय ने बंगाल को यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति के नज़दीक लाया ।

मुझे विश्वास है कि बहुत सारे विद्वान बंगाल नवजागरण के बारे में अपने तर्क को अधिक बोझिल नहीं करेंगे । मैं व्यक्तिगत रूप से महसूस करती हूँ कि महत्वपूर्ण किताबें जो भारतीय भाषाओं में 'नवजागरण' पर लिखी गयी हैं, उन्हें हिंदी, अंग्रेजी और दूसरे भारतीय भाषाओं में अनूदित किया जाना चाहिए ।

अपनी थाकत को मजबूत करने के लिए, वृहत् अनुवाद कार्य के लिए एक क्षेत्रीय समाज बनाना चाहिए । अन्य चीजों के साथ अनुवाद द्वारा भी क्षेत्रीय साहित्य के प्रति आदर और सम्मान प्राप्त किया जा सकता है । इस सकारात्मक तथा नये अनुभव को अनुवाद के माध्यम से संस्कृति के क्षेत्र में जोड़ा जा सकता है।

व्यापक आत्मपहचान का अन्वेषण ही नवजागरण है :

बंगाल के लोकप्रिय साहित्यकार अन्नदाशंकर राय ने अपने 'आत्मचरित' में एक घटना का उल्लेख किया था । आई.सी.एस. परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् वे शांतिनिकेतन गये थे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर से आशीर्वाद लेने एवं कवींद्र को इस बात की सूचना देने कि अपने कर्मस्थली के रूप में उन्होंने बंगभूमि का ही चयन किया है । उन्होंने सोचा था कविगुरु यह खबर सुनकर बहुत प्रसन्न होंगे । परंतु कवि प्रसन्न नहीं हुए । उन्होंने

अन्नदाशंकर से पूछा, "तुमने बंगाल क्यों मांगा ? मैं होता तो यू.पी. का चयन करता ।" यहाँ यू.पी. का अर्थ उत्तर-प्रदेश नहीं था, वरन् यूनाईटेड प्राविंस ऑफ आगरा और संयुक्त प्रदेश था ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ऐसा क्यों कहा होगा ? सोचने पर हम उलझन में पड़ जाते हैं । प्रश्न उठता है कि उनके मन में बंगभूमि को लेकर कोई खेद था ? परंतु ऐसा कैसा हो सकता है ? बंगदेश के हृदय से तुम कब अपने से/यह अपरूप रूप धरकर बाहर आयी हो जननी" अथवा "हे मात: बंगदेश श्यामल अंग झलकाती हो अमल शोभा से" -ऐसे अजस्र पंक्तियों को, विशेषकर जो गीत, कविताएँ बंगभंग आंदोलन के समय रची गयी थीं, उन्हें देखने के पश्चात्, आश्चर्य करना पड़ता है कि कवि ने आखिर बंगाल के बदले युक्त प्रदेश का पक्ष क्यों लिया ?

वास्तव में रवीन्द्रनाथ बंगप्रदेश से प्रेम तो बहुत करते थे, परंतु केवल 'बल्ला हूँ ' इस छोटे से परिचय की सीमा से वे उस समय बाहर आना चाहते थे । मन और दृष्टि की किसी भी तरह की संकीर्णता से निकलकर वह बाहर देखना चाहते थे । उनके 'गोरा' उपन्यास में, हम देखते हैं कि गोरा अपने आप को भारतीय कहकर अपना परिचय देता है । समस्त भारतवासियों की जात उनकी जात है । उसका भोजन उनका भी भोजन है। परंतु हम जानते हैं इस "भारतीय" परिचय के भीतर भी बंधकर नहीं रहेंगे । वे और भी वृहत परिचय ढूँढ़ लेंगे, "देश-विदेश में मेरे जितने देश हैं/ मैं उन्हें तलाश लूँगा । अर्थात् वे बन जायेंगे विश्व-नागरिक ।

सीमित परिचय से वृहद परिचय का अन्वेषण ही तो 'रेनेसाँ' का वास्तविक उद्देश्य है । हम तो कुएँ के मेंढक थे । 'रेनेसाँ' के जो 'ऋत्विक' थे उन्होंने ही तो हमें इस कुएँ से उठाकर विस्तृत मैदान में मुक्त कर दिया ।

हमें सिखाया, "तुम्हारा असली परिचय है मन्त्यत्व । यह विश्व, यह धरा ही तुम्हारा पता है ।"

किंतु वह तो बाद की बात है । जन्म लेते ही हमें एक परिचय मिल जाता है, जो हमारा अर्जित नहीं होता है । उदाहरण स्वरूप, जिस वंश में मैं जन्म लेता हूँ, उसी के परिचय से परिचित होता हूँ । परंतु जैसे-जैसे हमारी उम्र बढ़ती है, वैसे-वैसे हम नये क्षेत्रों में प्रवेश करते हैं और नये-नये परिचय प्राप्त करते हैं । स्कूल में जब दाखिला लेते हैं, तो हमारा परिचय होता है छात्र । फिर महाविद्यालय, महाविद्यालय के पश्चात् विश्वविद्यालय, हर एक क्षेत्र में, हमारा एक विशेष परिचय होता है । जीविका के क्षेत्र में, हम में से प्रत्येक का अपना अलग व्यक्तिगत परिजय होता है, हममें से कोई लेखक, कोई अध्यापक, कोई, व्यापारी, कोई डॉक्टर तो कोई इंजीनियर आदि होता है । इनमें से एक भी हमारा जन्मजात परिजय नहीं है, बल्कि अर्जित परिचय है ।

हमारा एक स्थानिक परिजय भी है । कोलकाता के मेरे मित्र मुझे उत्तर कस्बाई आदमी के रूप में पहचानते हैं । परंतु जब भी मैं कोलकाता से बर्धमान, सिलिगुड़ी, जलपाई-गुड़ी या फिर मुर्शिदाबाद जाता हूँ, सब मेरे कस्बाई परिचय को भूलकर कहते हैं, कोलकाता से एक साहित्यकार आये हैं । फिर जब मैं पश्चिम-बंग के बाहर कदम रखता हूँ तब मेरा परिचय हो जाता है - एक बंग्ला साहित्याकर । जब देख के बाहर विदेश जाता हूँ, तब मुझ कोई बांग्ला नहीं कहते हैं, बल्कि कहते हैं कि भारत से एक लेखक आये हैं । मेरे पासपोर्ट में बांग्ला नहीं, वरन् भारतीय लिखा हुआ है ।

एक और मजे की बात यह है कि मुझे किसने बनाया है, मैं नहीं जानता । परंतु यदि अचानक मेरी उनसे भेंट हो जाये या फिर उनके

दरबार में मुझे हाज़िर होना पड़े, तो वहाँ संभवत: एक अच्छे क्लर्क से मेरी मुलाकात हो जाये, जिनका नाम है चित्रगुप्त । जो सबका परिचय अपनी कापी में लिखते चले जा रहे हैं । वे मुझे भारतीय भी नहीं कहेंगे । वे लिखेंगे, 'पृथ्वी से आज एक मनुष्य आया है ।' पर वे मुझे मनुष्य तभी कहेंगे यदि मैंने नितांत अमानुष की तरह जीवन न जिया हो । कहने का अर्थ यह है कि, यह 'मनुष्य' परिजय ही हमारा सबसे बड़ा परिजय है । कवीन्द्र रवीन्द्र ही क्यों, जो अन्य विख्यात लेखक व कलाकार हुए हैं, उन्होंने भी सदैव व्यापक परिचय से हमें परिचित कराने की कोशिश की है ।

खेद यही है कि हम अपने भाषागत, धर्मगत, पेशागत, जातिगत, वर्णगत छोटे-छोटे परिचय में सिमट कर रह जाते हैं । तब मुक्त मेंढक़ जिन्हें खुले प्रांतर में छोड़ दिया गया था यानी कि हम, फिर से पीछे हटते-हटते कुएँ में घुस जडाते हैं । यही वास्तव में होता है ।

एक मानव सबेरे-सबेरे घर से निकलकर अपने कर्मक्षेत्र में जाता है । वह जब तक घर वापस नहीं आता, घर के लोग चिंता करते हैं, परेशान रहते हैं । बाहर की दुनिया से जब तक वह वापस आकर अपनी गली में प्रवेश नहीं करता है, तब तक वह अपने आप को निरापद महसूस नहीं करता है । मानव के इतिहास में भी ऐसी घटनाएँ घटती हैं । जब हम अपने छोटे से परिचय को ही बड़ा करके देखते हैं, उसे ही सर्वश्रेष्ठ मान लेते हैं, तभी दुर्दिन आता है । धार्मिक, भाषिक विभेद जन्म लेते हैं । हमारा जीवन संकुचित होने लगता है । इस तरह के विभेद से मुक्त विभिन्न भारतीय भाषा-भाषियों के बीच और अधिक आदान-प्रदान की आवश्यकता है । परस्पर को जानने-पहचानने की आवश्यकता है । यह याद रखना आवश्यक है कि हम सब एक ही वृहद् मानव-परिवार के सदस्य हैं । भाषा के माध्यम

से, साहित्य के माध्यम से, अनुवाद के द्वारा परस्पर को जानने-पहचानने की प्रक्रिया सहज हो जाती है ।

आज जो विद्वान भारतवर्ष के पूर्व एवं उत्तर पूर्वांचल क्षेत्रों से आये हैं, उनके बारे में हम जानते ही कितना हैं ? असमिया या ओड़िया साहित्य के बारे में यदि कुछ जानते भी हैं, तो भी मणिपुरी अथवा नागालैंड का साहित्य हमारे ज्ञान के बाहर है । जबकि इनके बारे में जानना अत्यंत आवश्यक है । प्रादेशिकता की जंजीर को तोड़े बिना सर्वभारतीय सौहार्द संभव नहीं ।

अनुवाद इसके लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय है । एक समय ऐसा आया था जब बांग्ला भाषा में अनुवाद पर्याप्त मात्रा में होता था । मुझे अपना बचपन यार आ रहा है । मुझे 'टॉम चाचा की कुटिया' पढ़ने को मिली थी । चंडीचरण सेन द्वारा अनूदित 'अंकल टॉम्स केबिन' का एक असाधारण अनुवाद है 'टॉम चाचा की कुटिया' । मेरे पिता, जो कोलकता विश्वविद्यालय के अध्यापक थे, कहा करते थे, कि यदि चंडीचरण सेन महोदय और कोई अनुवाद कार्य न करके केवल यही एक अनुवाद करते, तो भी वे अमर हो जाते । इसके उपरांत भी कई तरह के अनुवाद कार्य हुए हैं - अंग्रेजी से, फ्रेंच से, जर्मन से, रूसी आदि भाषाओं से । नृपेंद्र कृष्ण चट्टोपाध्याय एक बहुत विख्यात अनुवादक थे । ये लोग न केवल अनुवादक थे बल्कि बड़े सर्जक भी थे । शांतिरंजन बंद्योपध्याय, बनी भैमिक, सुभाष मुखोपाध्याय आदि ने भी कई अनुवाद कार्य किये हैं । परंतु यह कार्य हुआ है संपर्क भाषा अंग्रेजी के माध्यम से । कुछ लोगों ने मूल से भी किया है । फिर भी कहना पड़ेगा कि अभी भी विभिन्न भारतीय भाषाओं से अनुवाद की संख्या अल्प ही है । बांग्ला भाषा के एक अनुवादक थे प्रियरंजन सेन । वे अंग्रेजी एवं बांग्ला दोनों भाषाओं में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त

कर उत्तीर्ण हुए थे । उन्होंने प्रेमचंद के 'गोदान' का अनुवाद किया था । परंतु यहाँ दूसरी भाषाओं के जो साहित्यकार आज इस सभा में उपस्थित हैं, जैसे असमिया साहित्यकार, इनकी रचनाओं का अनुवाद हमारी भाषा में उपलब्ध नहीं है । लिपि की समस्या, कई बार अनुवाद कार्य में बाधा बनकर आती है । ऐसे में संपर्क भाषा की सहायता से हम बांग्ला में अनुवाद करते हैं । जब बांग्ला की किताबें अन्य भाषाओं में भारी संख्या में अनूदित हो रही हैं, तब हमारे लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि हम दूसरी भाषाओं की रचनाओं का बांग्ला में अनुवाद करें । यदि हमारे भीतर ऐसी शुभ चिंता का उदय होता है, यदि हम अन्य भारतीय भाषाओं की पुस्तकों का बांग्ला में अनुवाद करने में उत्साह लेते हैं, तो संभवतः हमारे बीच भाषा को लेकर जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उसका निवारण हो सके । कई प्रकार की गलतफहमियों से भी हमें छुटकारा मिलेगा ।

1857 को बार-बार याद किया जाना चाहिए :

बंगाल की सेना के सिपाहियों की बगावत से 185 के विद्रोह की शुरुआत हुई । विद्रोह के समूचे दौर में ये सैनिक अपने उद्देश्य पर दृढ़ता से टिके रहे । ईस्ट इंडिया की दो अन्य प्रेसिडेंसियों (मद्रास और बंबई) की सेनाओं की संख्या को मिला दें तो भी बंगाल की सेना उससे काफी बड़ी ठहरती थी । वास्तविकता यह है कि स्वेज नहर के पूरब में तैनात यह सबसे बड़ी आधुनिक सेना थी । जिस समय इसने विद्रोह किया, उस समय तक 1,39,807 भारतीय इस फौज़ में सिपाही के रूप में काम कर रहे थे । साथ ही इस फौज में 2689 यूपोपीय अधिकारी भी थे ।[1] पिछले अठारह वर्षों से अधिक समय से मुक्त व्यापार के सिद्धांत को माननेवाले ब्रिटेन के ज्यादा से ज्यादा इलाकों पर कब्जा करने की उन्मादी सैनिक महत्वाकांक्षा को पूरा

करने के मकसद से बंगाल की सेना के सिपाही का इस्तेमाल किया जा रहा था । प्रथम अफगान युद्ध (1838-42), सिधिया की सेना के साथ खूनी संघर्ष (1843), थोड़े समय के अंतराल से लड़े गये पंजाब के दो युद्ध (1845-46 और 1848-49) और बर्मा के दूसरे युद्ध (1852) के प्रहार को इस सिपाही ने झेला था । अफीम युद्ध में चीन के विरुद्ध लड़ने के लिए उसे दो बार (1840-42 और 1856-60) समुद्र पार भेजा गया था । 1815 में नैपोलियन के पतन के बाद दुनिया की कोई विरली फौज ऐसी रही होगी जिसे लगातार इतने लंबे समय के लिए अपने सैनिकों की जान बचाने के लिए बुलाया गया हो । 1857 में फरवरी के आखिरी दिनों में बहरामपुर में उन्नीसवीं इऽफैंट्री में जब असंतोष के चिह्न नज़र आये तो उसके कर्नल (मिशेल) ने धमकाया और कहा कि फौज को "बर्मा या चीन के लाम पर भेज दिया जायेगा जहाँ भारी संख्या में लोगों की मौत होगी ।"[2] इस फौज के सैनिकों ने जिस बहादुरी के साथ अपने मालिकों की खिदमत की थी उसे लगा कि उस खिदमत पर पानी फिर गया । उसे यह भी लगा कि उसे बाहर भेजने का सिलसिला अंतहीन है, जिसमें मृतकों की संख्या बढ़ती जा रही थी ।

एक तरफ तो उसकी भूमिका साम्राज्यवाद की बलि वेदी पर चढ़ने वाले की थी जिसकी वजह से उसका मनोबल टूटा था, वहीं सेना में उसकी हैसियत पूरी तरह गुलामों जैसी थी जिसने उसके भीतर के आक्रोश को बढ़ाने में आग में घी का काम किया । काफी समय तक नौकरी करने के बाद (क्योंकि वरिष्ठता तरक्की का एकमात्र आधार था) वह जमादार और उसके बाद सूबेदार के ओहदे तक पहुँच सकता था । प्रत्येक रेजिमेंट में इस तरह के कुल दस ओहदे हुआ करते थे और अंतिम पद सूबेदार मेज़र का होता था । पूरी रेजिमेंट में इसकी संख्या एक थी । काफी लंबे समय तक

नौकरी करने के बाद बहुत थोड़े से लोग यहाँ तक पहुँच पाते थे, इसके बाद तरक्की का रास्ता बंद हो जाता था । तरक्की करके इन पदों पर पहुँचने के बाद भी सिपाही से यह उम्मीद की जाती थी कि वह मुखबिरी करेगा या संदेश वाहकों की भूमिका निभाएगा । सत्ता सिर्फ यूरोपीय अधिकारियों के हाथों में थी जिनका नीचे से ऊपर तक के सभी पदों पर एकाधिकार था ।

बंगाल की सेना गवर्नर जनरल की बंगाल प्रेसिडेंसी की अपनी सेना थी । इसका विस्तार सिंध को छोड़कर सारे उत्तर भारत में था । लेकिन जिस क्षेत्र से सैनिकों की भर्ती होती थी, वह हिमालय के इलाके को छोडक़र मोटे तौर पर आज का उत्तर प्रदेश था, इसके साथ ही इसमें हरियाणा और पश्चिमी बिहार भी शामिल था । इसकी आंशिक वजह यह थी कि अंग्रेजों को यह बात सुविधा-जानक लगी कि इस क्षेत्र के लोग एक सामान्य जबान "हिंदुस्तानी" का प्रयोग करते थे । भर्ती होने वाले सिपाहियों में ज्यादातर छोटे किसान परिवारों के लोग होते थे । बंगाल की सेना में पैदल सेनिकों की संख्या (1,12000) सबसे ज्यादा थी, इनमें ब्राह्मणों की तादाद सबसे अधिक थी । इसके बाद राजपूत थे और बाकी हिंदू समुदाय के दूसरे तबके और मुसलमान थे । घुड़सवार सेना में (19000) मुसलमान (सैय्यद और पठान) अधिक संख्या में थे । सबसे कम संख्या तोपखाने की थी । इसमें कुल 5000 लोग थे । इसमेंड़ सारे समुदायों के मिलेजुले लोग थे । सिपाहियों की काफी बड़ी संख्या (लगभग 40,000) अवध क्षेत्र से भर्ती की गयी थी ।[3] इस क्षेत्र में आज की लखनऊ और फैजाबाद कमिश्नरियां शामिल हैं । सिपाहियों के इस क्षेत्रीय संबंध को ध्यान में रखना काफी महत्वपूर्ण है । इसलिए कि यह वही क्षेत्र है जहाँ 1857 के विद्रोह की आग

सबसे तेज थी । बहरहाल, उपनिवेशवादी शासन से सिपाही के बढ़ते अलगाव की व्याख्या के लिए इससे हमें एक अलग आधार मिलता है ।

अगर अवध के इलाके को छोड़ दें तो फौज में भर्ती होने वालों का इलाका महालबाड़ी भूमि व्यवस्था के अंतर्गत आता है । बंगाल और बिहार के स्थाई बंदोबस्त के एकदम उलटा और इस क्षेत्र में राजस्व की वसूली की दर लगातार बढ़ती जा रही थी । 1833 के बाद काफी बड़े क्षेत्र में काफी जमीन पुन: वापस कर दी गयी थी । इससे फायदा उठाने वालों में मुख्य रूप से ब्राह्मणों और मुसलमानों का सम्पन्न तबका था । इस व्यवस्था से उन परिवारों की जोतों पर दबाव पड़ा जिन परिवारों से सिपाही फौज में आये थे । सिर्फ अवध में स्थिति बदली थी । 1856 में इस इलाके को ब्रिटिश राज में मिला लिया गया । इसके पहले जब भी वह (सिपाही) नवाबी सरकार और उसके अधिकारियों के खिलाफ शिकायत करता था तो जोतदार के रूप में सिपाही को ब्रिटिश रेजिडेंट की तरफ से संरक्षण मिलता था । इस क्षेत्र के ब्रिटिश राज में मिला लिए जाने के बाद सुविधा की यह स्थिति समाप्त हो गयी । वास्तविकता यह थी कि अब महालबाड़ी व्यवस्था का विस्तार अवध तक होना था जिसके चलते सिपाही को अपनी अधिकांश आमदनी से हाथ धोना था और शायद उसे अपनी जमीन से भी हाथ धोना था ।

जैसे ही नागरिक प्रशासन और सैनिक अधिकारियों के खिलाफ सिपाहियों की शिकायतें बढ़ी सिपाही ने अपनी पहचान को ज्यादा धार्मिक रंगत देना शुरू कर दिया । उसके मनोबल को ऊँचा करने के लिए सैनिक अधिकारियों ने बंगाल सेना को उच्च जातियों की सैनिक-प्रतिष्ठा प्रदान की थी । 1855 के नियम की वजह से निचली जातियों के लोगों को सेना में

भर्ती को हतोत्साहित किया जाता था । फौज के अधिकारी जातिगत विधि-निषेधों के प्रति आदर भाव को बढ़ावा देते थे । इसमें वे काफी सावधानी भी बरतते थे । इसके लिए सैनिकों को अलग से अपना खाना पकाने की छूट थी । इसलिए इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि सिपाही अपनी जाति और अपने धर्म के प्रति काफी संवेदनशील हो गये थे । लेकिन अलग-अलग धर्मों के लोगों को लेकर रेजिमेंट का गठन इस प्रकार किया गया था कि सिपाहियों में आपस में एकता का भाव न पैदा होने पाए । लेकिन पर सैय्यद अहमद खां की टिप्पणी है कि नतीजा एकदम उलटा हुआ था । एक ही कंपनी में साथ-साथ काम करने से हिंदू-मुस्लिम सिपाहियों के रिश्ते प्रगाढ़ हुए थे और दोनों एक दूसरे को भाई समझते थे ।[4] इसलिए जब चर्बी लगी गोलियों का मुद्दा सामने आया तो गाय तथा सूअर की चर्बी से अपवित्र होने के भय से दोनों एकजुट हो गये और विश्वास या दीन की रक्षा के लिए उनका स्वर एक हो गया ।

बंगाल की सेना को अधिक प्रभावी बनाने के मकसद से नयी एनफिल्ड राइफलों के लिए ग्रीस वाले नये कारतूस डिजाईन करवाए गये थे। कारतूस को दांत से काटकर बंदूक में भरने में बहुत कम समय लगता था । और हाथ से जोडक़र भरने में काफी ज्यादा समय लगता था । लड़ाई के मैदान में सैनिक के लिए एक क्षण का भी महत्व होता है, क्योंकि जीवन और मौत के बीच फर्क के लिहाज से यह समय काफी मूल्यवान होता है । इसलिए इस बात के लिए पर्याप्त कारण थे जिनके चलते अधिकारी इस नये हथियार के इस्तेमाल और उस इस्तेमाल के तरीके पर अधिक जोर दे रहे थे । गोकि 1857 के शुरू में ही इसके प्रति सिपाहियों में खलबली और आक्रोश के लक्षण प्रकट होने लगे थे । छूट की घोषणा काफी देर से

की गयी और उसपर लोगों ने यकीन नहीं किया । सिपाहियों के सीने में अन्य प्रकार से भी काफी ईंधन एकत्र हो चुका था जिसमें चर्बी वाली कारतूस ने चिनगारी का काम किया और सारी सेना में आग धधक उठी ।

जब 29 मार्च, 1857 को बैरकपुर में इस विद्रोह के पहले शहीद मंगल पांडे ने उठ खड़ा होने के लिए अपने साथियों का आह्वान किया तो उनका यह आह्वान तत्कालीन रूप से निष्फल साबित हुआ । इसके बाद 19वीं तथा 39वीं इनफैंट्री से हथियार छीन लिए गये और इन दोनों को भंग कर दिया गया । सैनिकों ने इसका किसी भी तरह से प्रतिरोध नहीं किया । लेकिन यह आह्वान एक सैनिकछावनी से दूसरी सैनिक छावनी उस समय तक फैलता रहा जब तक 11 मई को मेरठ छावनी के विद्रोहियों ने दिल्ली पर कब्जा न कर लिया और यहीं से संपूर्ण बंगाल सेना को विद्रोह करने के लिए संकेत भेजे गये ।

समय गुजरने के साथ इस संकेत का सब जगह पालन किया गया । सितंबर 1854 तक बंगाल की फौज में कुल सात रेजिमेंटें बची रह गयी थीं । इनमें सिर्फ 7796 सिपाही थे जबकि दो साल पहले तक इसमें भारतीय सिपाहियों की संख्या 1,37,000 थीं ।[5] इसलिए इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं है कि जिन सिपाहियों ने विद्रोह किया था और ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हथियार उठाया था, उनकी संख्या 1,00,000 के करीब थी । न सिर्फ सशस्त्र सैनिकों की संख्या विद्रोह में शरीक थी बल्कि अपने रैंक में यह सबसे आधुनिक सेना थी । विद्रोही सैनिकों ने बंगाल सेना के सांगठनिक ढांचे की नकल करने की तत्परता दिखायी, यह बात साफ है । इसमें सरकार के लिए उन्होंने कौंसिलों का गठन किया और फौज में अपने

नेतृत्व के लिए उन्होंने 'जनरल' और 'कर्नल' जैसे ओहदे बनाए । यहाँ परंपरागत भारतीय संगठन से भिन्नता साफ तौर से दिखायी देती है ।

अगर कहा जाये कि सिपाही विद्रोह 1857 के महाविद्रोह का मुख्यादार था तो उतने ही निश्चयपूर्वक यह भी कहा जा सकता है कि इसका रूप इतना बड़ा नहीं हो पाता अगर इसको हरियाणा से लेकर बिहार तक के आम नागरिकों की हार्दिक सहानुभूति न मिली होती । इन्हीं क्षेत्रों के गाँवों से इन सिपाहियों की भर्ती की गयी थी । इस विशाल क्षेत्र में इस विद्रोह ने किसान विद्रोह की रंगत अख्तियार कर ली थी ।

हम पहले भी देख चुके हैं, जोतदार के रूप में सिपाही को महालबाड़ी व्यवस्था के दमनात्मक चरित्र के चलते काफी परेशानी महसूस हुई थी क्योंकि जिन इलाकों से वे आये थे, उन इलाकों के अधिकांश भाग में यह व्यवस्था प्रचलित थी । इसको इतिहास की वास्तविक विडंबना ही कहना चाहिे कि जिस क्षेत्र से अधिकांश सैनिकों की भर्ती का निर्णय ब्रिटिश अधिकारियों ने लिया था, यही वह क्षेत्र भी था जहाँ ब्रिटेन के करों का बोझ सबसे ज्यादा पड़ा था । बिहार और बंगाल में स्थाई बंदोबस्त था और मद्रास प्रेसिडेंसी में रैयतबाड़ी व्यवस्था थी जिसमें कर की दर निश्चित थी । इससे इस क्षेत्र पर अधिक कर नहीं लगाए जा सकता थे जोकि इन इलाकों पर अंग्रेजों ने पहले कब्जा किया था । बंबई प्रेसिडेंसी में रैयतबाड़ी व्यवस्था काफी लचीली बनायी गयी थी इसलिए कर बढ़ाने में लचीलेपन से काम लिया जाता था । केवल उत्तर भारत का महालबाड़ी व्यवस्था वाला क्षेत्र ऐसा था जहाँ अधिकाधिक कर बढ़ाने की इच्छा को बेलगाम छोड़ दिया गया। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में राजस्व में वास्तविक बढ़ोत्तरी (यानी मूल्यों के साथ समायोजित करने पर) लगभग 70 प्रतिशत थी और 1844 में

आगरा सूबे में (अवध को छोडक़र वर्तमान उत्तर प्रदेश के मैदानी इलाकों में) राजस्व 5.60 करोड़ पहुँच गया था । इस व्यसवथा में राजस्व वसूली का दायित्व सामूहिक था । इस पर बार-बार जोर देने के कारण जमींदारों तथा किसानों, दोनों के हाथ से जमीन खिसकने लगी । अलीगढ़ जिले में 1839 से 1858 के बीच 50 प्रतिशत जमीन का हस्तांतरण हुआ । इसी दौर में व्यापारियों और सूदखोरों ने अपनी जमीनें बढ़ा लीं । पहले उनका हिस्सा 3.4 प्रतिशत था जो बढक़र 12.3 प्रतिशत हो गया । 1841 और 1861 में बीच मुजफ्फरनगर जिले में एक चौथाई जमीन का हस्तांतरण हुआ और गैर-कृषक वर्ग का हिस्सा 11 प्रतिशत से बढक़र 19.5 प्रतिशत हो गया ।[6] ये आंकड़े बताते हैं कि ठीक उसी समय कृषक वर्ग की परेशानियां कितनी ज्यादा हो गयी थीं जिस समय सिपाहियों को चर्बी (ग्रीस) वाली कारतूसें दी गयी थी । अवध को जब कंपनी के क्षेत्र में मिला लिया गया (1856) तो अवध के तालुकेदारों और किसानों में उसी प्रकार की बैचेनी पैदा हुई क्योंकि घोषणा की गयी थी कि मिलाए गये राज्य में भी महालबाड़ी व्यवस्था लागू की जायेगी । जिन लोगों ने वाजिद अलीशाह के सत्ता से हटाए जाने को बड़ी तटस्थता से देखा था, उनको जल्दी ही नवाब के शासन का खात्मा अखरने लगा । मार्क धार्निहिल एक स्थानीय अधिकारी था (उसने 15 नवंबर, 1858 को रिपोर्ट किया था), उसको ऐसा लगा था कि सिपाही विद्रोह के ठीक बाद में किसानों के विद्रोह के लिए किसान दोषी थे :

"चाहे इसमें जितना भी विरोधाभास दिखे, लेकिन खेतिहर मजदूर वर्ग जिसको हमारे शासन से सबसे ज्यादा फायदा पहुँचा है. . . हमारे शासन के बने रहने के सबसे ज्यादा खिलाफ थे जबकि बड़ी संपत्ति वाले जिन्हें हमारे शासन में नुकसान उठाना पड़ा है, हमारे साथ डटे रहे ।"[7]

धार्नहिल पश्चिम यू.पी. के पुराने महालबाड़ी इलाके की बात कर रहा था । 1861 में अवध के विषय में बोलते हुए भारत सचिव सर चार्ल्स वुड ने हाउस आफ कामंस में कहा था :

"उस राय के परिणामस्वरूप (यानी महालबाड़ी व्यवस्था की पूर्णता के विषय में) नये हथियार गये अवध के इलाके में इसको लागू किया गया । हमने कल्पना की भी कि हम आम जनता को फायदा पहुँचा रहे हैं और उनको तालुकेदारों के दमन से बचा रहे हैं लेकिन अवध के विद्रोह में हमारे खिलाफ रैयत (आमलोगों) ने भाग लिया और तालुकेदारों के साथ सहयोग किया ।"[8]

जैसा कि हर विद्रोह या क्रांति में होता है, 1857 का वर्गीय स्वरूप बहुत निश्चित या स्पष्ट नहीं था । जमींदारों और तालुकेदारों के कुछ संगठन ऐसे थे जो इस विद्रोह से पृथक थे और अवसर देखकर अंग्रेजों के साथ खड़े हो गये । बहुत से किसान ऐसे थे जो ब्रिटिश अधिकारियों के तो विरुद्ध गये ही कुछ विद्रोहियों का भी उन्होंने विरोध किया जैसे कि एरिक स्टोक ने इसको स्ष्ट करते हुए लिखा है, "मूल किसान भावना कर वसूलने वाले के विरुद्ध थी, उससे मुक्ति पाने की थी चाहे वह किसी भी रंगरूप का हो ।"[9] लेकिन सामान्य स्थिति ऐसी थी कि समूचे उत्तर प्रदेश के मैदानी इलाके में गाँवों में ब्रिटिश शासन तकरीबन समाप्त हो गया और सत्ता विद्रोही जमींदारों तथा किसानों के हाथ में पहुँच गयी । यहाँ उनके आपसी अंतर्विरोध गौण स्थान पर पहुँच गये । अंग्रेजों के खिलाफ असंतोष केवल गाँवों तक सीमित नही ंथा । शहरों में विनाश का असर दस्तकारी पर पड़ा था, खास तौर से सूती कपड़ों पर । अंग्रेजी प्रतिस्पर्धा के हस्तक्षेप के कारण तथा शासक वर्ग के समाप्त होने से दस्तकारी की मांग समाप्त हो गयी थी।

अगस्त 1857 के घोषणा पत्र में विद्रोही राजकुमार फिरोजशाह ने इस बात को रेखांकित करते हुए कहा था, "भारत में अंग्रेजी वस्तुओं को लाकर यूरोप के लोगों ने जुलाहों, दर्जियों, बढ़ई और लुहारों और जूता बनाने वालों को रोजगार से बाहर कर दिया है और उनके पेशों को हड़प लिया है । इस प्रकार प्रत्येक देशी दस्तकार भिखारी की दशा में पहुँच गया है ।"[10]

कस्बे के लोग इतनी तेजी से विद्रोह में क्यों शरीक हो गये, यह बात लखनऊ के एक अंग्रेज अधिकारी के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है । उसने उसका आँखों देखा हाल लिखा है । जिस समय विद्रोह भडक़ा उस समय यह भारत का सबसे बड़ा शहर था और उसकी आबादी दस लाख थी ।

लखनऊ के लोग हमारे खिलाफ (अंग्रेजों के खिलाफ) खड़े हो जाएँ यह काफी मुमकिन है, गोकि हमें गलत सूचनाएँ मिल रही थीं कि हर व्यक्ति हमसे संतुष्ट है । हमने उनके लिए कुछ भी नहीं किया है जिससे हमें उनका स्नेह मिले बल्कि काफी कुछ ऐसा किया है जिससे हमसे वे नफरत करें । हजारों की संख्या में रईस, कुलीन व्यक्ति और सरकारी अधिकारी राजा के जमाने में (ब्रिटिश राज में शामिल किये जाने, 1856 के पहले) उच्च पदों पर लगे हुए थे । ये लोग इतना काहिल थे कि कोई और काम नही ंकर सकते थे, ये सभी आज गरीबी और अभाव की हालत में हैं । उनके अनगिनत आश्रित जन, नौकर-चाकर तो एकदम बेरोजगार हो गये हैं । इसमें बड़ी संख्या में आश्रयहीन, आवारा और भिखारी थे जिनसे बादशाह के शासन में यह शहर पटा रहता था और जिनका भोजन मिल जाया करता था। देशी सौदागर साहूकार और दूकानदार थे जो वाजिद अली के राज्यकाल में भरपूर मुनाफा कमाया करते थे । ये लोग, राजा, उसके दरबारियों और बड़ी संख्या में हरम की संपन्न महिलाओं के लिए विलासिता

का सामान पहुँचाया करते थे । अब उनकी बिक्री के लिए कोई जगह नहीं रही । और आम लोग, खास तौर पर गरीब लोग बहुत ही असंतुष्ट हैं क्योंकि प्रत्यक्ष और परोक्ष, दोनों तरह से उन पर कर थोपे गये हैं ।"[11]

इसमें कोई शक नहीं कि विचारधारा से जुड़ा कारकों की भी इसमें अपनी भूमिका थी । ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार ने मिशनरियों के दबाव के कारण चर्च की गतिविधियों को सरकारी स्तर पर मदद की थी । इससे ऐसी स्थिति पैदा हो गयी कि हिंदू और मुसलमान दोनों ही इसके उद्देश्यों को लेकर शक करने लगे। 28 जनवरी, 1857 को जनरल हर्से को यह शिकायत करते हुए सुना गया कि कलकत्ता में "किसी हिंदू धार्मिक दल के एजेंट (मुझे लगता है कि इसका नाम 'धर्म सभा' था) यह अफवाह फैला रहे हैं कि सरकार फौजियों का धर्म परिवर्तन कराना चाहती है ।" और इसकी वजह बतात हुए उसके कहा कि हाल में ही कलकत्ता में विधवा विवाह के लिए जो नियम बनाया गया है, उसके चलते लोगों में गुस्सा है ।[12] उत्तर भारत में वहाबियों ने प्रचार का एक जाल फैला रखा है कि अंग्रेज हमारे धार्मिक शत्रु हैं जिसके खिलाफ जेहाद या धर्म-युद्ध छेड़ा गया है । इस विद्रोह में उन्होंने जेहादी सैनिक दिये । इनमें से काफी लोग "जुलाहे, कारीगर और दूसरे प्रकार की मजदूरी करने वाले थे । ये लोग बख्त खां की सेना में शामिल हो गये जो दिल्ली का कमांडर था ।[13] इसलिए यह स्वाभाविक था कि विद्रोही अक्सर धर्म की रा का नारा लगाते थे लेकिन यह बात भी याद रखने लायक है कि उन लोगों ने भरसक कोशिश की कि इस प्रकार के नारे के कारण सिपाही आपस में न बंट जाएँ । जुलाई के आखिर में जब इदुल जुहा का मुसलमानों का त्यौहार आया जिसमें परंपरागत रूप से पशु बलि दी जाती है तो विद्रोही नेताओं ने इस बात का ख्याल रखा कि

इसमें गाय, भैंस अथवा बैल न मारे जाएँ जिनके मारने से हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचाती है ताकि हिंदू-मुसलमान झगड़े से बचा जा सके।[14] बागी नेता अहमदुल्ला शाह ने लखनऊ से 1857 में एक जौशीला चर्चा जारी किया था जिसका शीर्षक था, "फतहे इस्लाम यानी इस्लाम की विजय" इस अपील में बार-बार कहा गया था कि हिंदू और मुसलमान दोनों को अंग्रेजों के खिलाफ मिलकर लड़ना चाहिए ताकि वे अपने धर्म की रक्षा कर सकें ।[15]

धर्म पर इतना अधिक जोर देने की व्याख्या यह कह कर की जा सकती है कि यह राष्ट्रीय चेतना के कमजोर होने का प्रामाण है । लेकिन विद्रोहियों के वक्तव्यों में 'हिंदुस्तान' का भाव प्रमुखता से विद्यमान है जिसकी तकदीर पर अंग्रेजों ने प्रश्न चिह्न लगा दिया था । अगस्त 1857 का फिरोजशाह का घोषणापत्र इन शब्दों से शुरू होता है :

"यह बात आपको अच्छी तरह मालूम है कि आज के जमाने में हिंदुस्तान के लोग, हिंदू और मुसलमान दोनों ही, काफिर और विश्वासघाती अंग्रेजों के दमन और आतंक से नष्ट हो रहे हैं ।"[16]

महारानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र के जवाब में एक पर्चा छपा था जिसमें अवध के राजकुमार बिरजिस कदर ने जनता से कहा था कि वे रानी विक्टोरिया की बातों पर विश्वास न करें क्योंकि "कोई भी समझदार व्यक्ति (अंग्रेजों द्वारा) हिंदुस्तान की समूची सेना को सजा देने को स्वीकृति नहीं दे सकता है ।" इस जवाबी घोषणापत्र में अंग्रेजों द्वारा की गयी नीचता की सूची दी गयी है जो अवध के शासकों के अलावा कुछ अन्य शासकों के साथ की गयी थी । जिनके साथ नीचता की गयी वे थे : भरतपुर के शासक, लाहौर के राजा दलीप सिंह, पेशवा, टीपू सुल्तान, बनारस के राजा, सिंधिया

और बंगाल के नाजिम ।[17] दूसरे शब्दों में केवल अवध का राजघराना अथवा उसकी प्रजा ही नहीं, बल्कि हिंदुस्तान की सारी जनता और राजे-महाराजे इसमें अंग्रेजी हुकूमत के दमन और उत्पीड़न के शिकर बताए गये थे और इनसे बागियों की मदद करने को कहा गया था ।

इसमें कोई शक की गुंजाइश नहीं है कि अगर व्यावहारिक रूप में देखें तो विद्रोहियों के खेमे में जबर्दस्त गुटबंदी और संकीर्णता व्याप्त थी । इसकी मुख्य वजह यह थी कि विद्रोही लोग किसी केंद्रीय सत्ता का नियंत्रण स्वीकार करने में असफल रहे । बिना किसी बड़े राजनीतिक मकसद के विद्रोह फूट पड़ा था । इसलिए यह स्वाभाविक था कि विद्रोही सिपाही उन राजाओं की खोज करें जिसको अंग्रेजी शासन ने बेदखल किया था । 185 तक ईस्ट इंडिया कंपनी का रुपया मुगल बादशाह के नाम से जारी किया जाता था और लोगों में यह आम धारणा थी कि कानूनी तौर पर सारे राजनीतिक अधिकार उसकी स्वीकृति से चलते हैं । इसलिए यह अवश्यंभावी था कि 1857 के विद्रोही सबसे पहले उस काल्पनिक शासक के नाम का इस्तेमाल करते और अपने अनेक उद्देश्यों में एक उद्देश्य उसकी सत्ता की पुनः प्राप्ति बताते । इस उद्देश्य के लिए दिल्ली पर अधिकार कायम करना और राजा के लोगों के हाथों में उसे देना काफी महत्वपूर्ण था। और 11 मई से 21 सितंबर तक जब तक दिल्ली पर बागियों का कब्जा रहा, विद्रोही सिपाहियों के लिए दिल्ली आकर्षण का केंद्र बनी रही । जहाँ कहीं भी स्थानीय राजे या राजकुमार दावेदार नहीं थे जैसे लखनऊ में अवध के नवाब का परिवार या कानपुर के नाना साहिब (जिनको वहाँ का पेशवा घोषित किया गया था) या झांसी की रानी लक्ष्मीबाई जो सत्ता से हटाए गये झांसी के राजपरिवार का प्रतिनिधित्व कर रही थीं । यह स्वाभाविक था कि

इस प्रकार के पुराने शासकों और आधुनिक सेना की उपज सिपाहियों के बीच कोई न कोई दिक्कत पैदा हो । दिल्ली में बख्त खां जैसे सिपाहियों का नेता अपनी लोकतांत्रिक प्रवृत्ति के कारण किले में अलोकप्रिय हो गया था जहाँ बिना अधिकारों वाले राजा का सिंहासन था और जहाँ कायम किया गया था, वह प्रसिद्ध कोर्ट आफ एडमिनिस्ट्रेशन के नाम से जाना जाता था और जाहिर है कि यह एक प्रकार से सेना केक चुने हुए लोगों का शासन कायम करने का प्रयास था । इसके संविधान में 12 आर्टिकल (धाराएँ) थे । इसके कोर्ट में दस सदस्य थे, इनमें से छह सेना की तीन टुकिड़यों (2 पैदल, दो घुड़सवार, दो तोपखाने) से लिए जाने थे ।[18]

घोषणा पत्र छापकर विद्रोहियों ने भरपूर कोशिश की कि उनके उद्देश्य की लोकप्रियता कायम हो जाये । अवध में पुराने राजदरबार की भाषा फारसी की जगह 'हिंदुस्तानी' का प्रयोग किया गया जिसमें आमने-सामने उर्दू और हिंदी, दोनों पाठ दिये गये थे । यह बात 'इश्तिहारनामा' से जाहिर होती है । इसे 6 जुलाई, 1857 को बिरजिस कदर के नाम से जारी किया गया था और इसमें 'देश के जमींदारों तथा आम जनता' को संबोधित किया गया था । इसमें जितनी सरल भा,ा का इस्तेमाल (इसमें ऐसे शब्द हैं जो उर्दू और हिंदी दोनों में इस्तेमाल होते हैं) किया गया है, वह काबिले तारीफ है ।[19] 25 अगस्त को राजकुमार फिरोज शाह ने एक अपील जारी की जिसमें काफी विस्तृत कार्यक्रम दिया गया है । इसमें देश की जनता के विभिन्न वर्गों से अपील की गयी है कि अंग्रेजों से सत्ता छीन लेने के बाद प्रशासन और वित्त आदि विभागों में क्या-क्या कार्य किये जायेंगे। यहाँ एक सैनिक टुकड़ी 'बादशाही हुकूमत' की तरफ से जमींदारों को आश्वस्त किया गया था कि उनसे घटे हुए दर से राजस्व जमा किया जायेगा और जमींदारी

अधिकार से थे) । सभी व्यापारिक गतिविधियां भारतीय व्यापारियों के लिए आरक्षित होंगी । उनको "सरकारी जहाजों और भाप से चलने वाले वाहनों का इस्तेमाल निःशुल्क करने दिया जायेगा ।"

सभी सरकारी पदों पर केवल भारतीयों की नियुक्ति होगी, सिपाहियों के लिए उचित दैनिक वेतन की व्यवस्था की जायेगी । कहा गया था कि "कारीगरों को राजे-महाराजे और धनीमानी लोग रोजगार मुहैया कराएँगे, पंडितों, फकीरों और विद्वानों को माफी जमीन दी जायेगी ।"[20] यह कार्यक्रम महत्वपूर्ण है । इसे आधुनिक वर्गों की पहचान की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा सकता है । क्योंकि साफ तौर पर जमींदारों को मनाने की (और निश्चित रूप से किसानों को उनके अधिकारों से वंचित करने की) इसमें कोशिश है जो मन में बेचैनी पैदा करती है । इनकी चाहे जो भी सीमा हो, इस तरह के दस्तावेज बताते हैं कि विद्रोहियों के पास प्रतिभा और दृष्टि थी और विद्रोहियों का संगठन सिर्फ पुराने रजवाड़ों या राजाओं की वापसी नहीं था ।

जब विद्रोह भडक़ा तो उसके बाद अत्याचार भी हुए, जिसका अंग्रेजों ने खूब बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया है, और स्वाभाविक भी था । लेकिन बाद में सामान्य लोगों से इसका भयानक प्रतिशोध लिया गया । यहाँ याद रखने की बात यह है कि इस विद्रोह का नेतृत्व करने वालों ने ही इन ज्यादतियों की निंदा की । अपने दूसरे घोषणा पत्र में दिल्ली के पतन के बाद फिरोजशाह ने उन हत्यारों की भर्त्सना की जिसने महिलाओं और बच्चों को मारा था । उसने इसको "खुदा की आज्ञा की उल्लंघन" बताया ।[21] लेकिन 1858 के विक्टोरिया के घोषणा पत्र में भारत में गोरों के अत्याचार और आतंक के लिए कोई सहानुभूति नहीं है । और यह नहीं भूलना चाहिए कि

समूचे विद्रोह के दौरान जितने नागरिक मारे गये उससे कहीं अधिक संख्या में सामान्य भारतीय जनता को एक ही स्थान पर अंग्रेजों ने नारा था । मारने से पहले अक्सर उनको पाशविक यातना भी दी जाती थी । लोग यह भूल जाते हैं कि गोरों के अत्याचार की सूचनाएँ विद्रोहियों को बराबर मिल रही थीं, इसलिए उनका क्रोध और तीव्र होता गया । अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'हिस्ट्री आफ दि सिपॉय वार' में लेखक इस भयंकर दुविधा का सामना करते हैं । जे.डब्लू.के. लिखते हैं : "एक अंग्रेज का दम लगभग घुटने लगता है जब वह पढ़ता है कि काले बर्बर लोगों ने श्रीमान चैंबर्स अथवा कुमारी जेनिंग्स के शरीर की बोटी-बोटी काट कर उसकी हत्या कर दी लेकिन स्थानीय इतिहास में या जहाँ इतिहास का अभाव है, वहाँ जनश्रुतियों में और परंपराओं में संभव है कि यह हमारी जनता के विरोध में दर्ज हो कि माताएँ, पत्नियां और बच्चे बुरी तरह अंग्रेजों द्वारा प्रतिशोधात्मक कार्रवाई के शिकार हुए और इन कहानियों में उतनी ही गहरी करुणा विद्यमान हो जैसी हमारे हृदय में है ।"[22] इन बातों ने भी विद्रोहियों के हृदय को कठोर बना दिया था।

आज 140वीं वर्षगांठ का अवसर है जब मेरठ के सिपाहियों ने दिल्ली में प्रवेश किया था । हम अनेक प्रकार की भावनाओं और परेशानियों की कल्पना कर सकते हैं जिनकी वजह से कुछ लोगों ने विद्रोह का झंडा बुलंद किया, जिसमें कुछ लोग बाद में शामिल हुए । अलग-अलग प्रेरणाएँ थीं जिनकी व्याख्या की गयी है लेकिन इस विद्रोह की तीव्रता से हमारा ध्यान नहीं हटाती हैं और उस साहस से जिसको लेकर विद्रोहियों ने इसकी शुरुआत की थीं । और यह भी कि समूचे उन्नीसवीं सदी के दौर में सारी दुनिया में साम्राज्यवाद को चुनौती देने वाला यह सबसे महान शशस्त्र विद्रोह था । आज के जमाने में जब भूमंडलीकरण, हिंदुत्व और मुस्लिम कट्टरपंथ

खूब फल-फूल रहे हैं कुछ लोगों को बेतुका लग सकता है कि 1857 के विद्रोहियों ने विदेशी शासन के विरुद्ध इतनी कटुता का प्रदर्शन किया या हिंदुओं और मुसलमानों ने एक साथ मिलकर अपना खून बहाया । शायद, यही वजह है कि हमें बार-बार 1857 को याद करने की जरूरत है ।

1857 का असर जो भारतीय भाषाओं और साहित्य पर पड़ा उसका सबसे अच्छा उदाहरण हमारा लोक साहित्य है, जिसने इस आजादी की जंग को जिंदा रखा और कई पीढ़ी के बाद तक उसको याद किया । बाद में हमारा जो स्वातंत्रता संघर्ष हुआ उसमें भी योगदान दिया । 1857 के बारे में कुछ लिखना उसके हक में आसान नहीं था । हम सब जानते हैं जब हम छोटे बच्चे थे तब भी हमने सुभद्रा कुमारी चौहान की वह कविता पढ़ी थी । जब 1857 के बारे में कुछ और नहीं जानते थे तो इतना जानते थे 'खूब लड़ी मर्दानी वो तो झांसी वाली रानी थी '। लेकिन उसको भी जल्दी ही बैन कर दिया गया । इसलिए इतिहास के अंदर यह ढूँढ़ना कि उसमें क्या लिखा गया है, इतना आसान नहीं है ।

गंभीरता से शोध करने पर हो सकता है कि पता लग सके । लेकिन भारतीय लोकगीतों में, जो कि गाँव के अंदर गाए जाते थे और जिसके ऊपर अंग्रेजों का अंकुश नहीं रह सकता था, 1857 की छवियों को देखा जा सकता है । सभी भाषाओं में खासकर हमारी नार्दन इंडिया की भाषाओं में बहुत सारे लोकगीत लिखे गये, पढ़े गये, सुनाए गये और जिंदा रहे उसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि 1919-1920 के बाद जब गांधी जी के नेतृत्व में अहिंसात्मक लड़ाई लड़ी गयी तो उसमें इन गीतों ने जबरदस्त योगदान दिया । इन गीतों में यह सवाल नहीं था कि वो लड़े बंदूक लेकर या हम लड़ रहे हैं

अहिंसात्मक ढंग से, बल्कि इसमें यह बात थी कि हम उस वक्त भी लड़े थे, हारे थे लेकिन खूब लड़े थे और अब भी लड़ रहे हैं और हम इस लड़ाई को आज नहीं तो कल जरूर जीतेंगे।

इसमें शोध की बहुत संभावना है कि भारतीय भाषाओं के लोकगीतों में क्या है और उसमें आजादी की जंग के बारे में क्या कहा गया है । अगल हम शोध करेंगे तो 1857 से संबंधित बहुत सारे दस्तावेज सामने आएँगे । राष्ट्रीय और संग्रहालय अभिलेखागार के अंदर बंडल ऐसे दस्तावेज पड़े हैं जो आज तक खुले ही नहीं । कई स्कॉलर ने उसको आर्काइव से पढ़ा भी है। उसको पढक़र इतिहास लिखा गया है । लेकिन अभी भी वो बंडल बंद पड़े हैं और उनको पढ़ने की जरूरत है । एक चीज साफ जाहिर हो जाती है कि अगर वे बंडल खुलेंगे तो कई सच्चाई हमारे सामने आएँगी । उस वक्त जो अखबार थे, उदाहरण के लिए उर्दू अखबार थे उसमें बहुत कुछ लिखा गया । उसके विरुद्ध कानून बनाकर बैन लगाया गया लेकिन इसके बावजूद छिपे ढंग से उन अखबारों में बहुत कुछ लिखा और छापा गया जिसे पढक़ इतिहासकारों ने इतिहास लिखा है । इससे पता चलता है कि उस वक्त के लोग क्या सोचते थे, क्या समझते थे और दबी जबान में इसे क्या कहा करते थे । अतः मैं दुहराना चाहूँगा कि अभी बहुत शोध की जरूरत है खासकर इसके ऊपर कि लोक गायन हमारे देश में कितना हुआ । कुँवर सिंह के बारे में हम जानते हैं कि कुँवर सिंह को अगर जिंदा रखा है या रानी झांसी को जिंदा रखा है तो सिर्फ लोकगीतों ने । पूरे बिहार के अंदर कुँवर सिंह को लोकगीतों के कारण सब लोग जानते हैं । बहुतों को यह पता नहीं कि कुँवर सिंह कौन था । सामंत था कि क्या था । लेकिन यह सब लोग

जानते हैं कि कुँवर सिंह किस दिलेरी के साथ लड़ा और कैसे उसने बहादुरी के साथ अपनी जान दी ।

1857 और नवजागरण :

1857 संदर्भ में नवजागरण की चर्चा होती रही है । नवजागरण में दिलचस्पी उन लोगों की नहीं है, जिनकी 1857 में है । इतिहासकार लोगों की दिलचस्पी किसी प्रकार के नवजागरण में नहीं है । नवजागरण में दिलचस्पी साहित्यकारों की है । दो चीजों को मिला दिया गया है – '1857 और नवजागरण' । हम लोग यहाँ '1857 और नवजागरण' का परिवेश ध्यान में रखेंगे। उसमें केवल हिंदी नहीं बल्कि हिंदी के अलावा दूसरी भाषाओं के साहित्य पर भी विचार करेंगे कि उन भाषाओं की क्या स्थिति हुई।

मैंने 1857 पर आज तक कुछ नहीं लिखा । नवजागरण पर 20 साल पहले भारतेंदु हरिश्चंद्र की पुण्यशती पर 'आलोचना' का एक अंक 1986 में निकाला था । उसके लिए एक संपादकीय लिखा था । कोई बना-बनाया हल मेरे पास इस समय नहीं है । कुछ सवाल जरूर मेरे मन में हैं जो तीस साल पहले से उठते रहे हैं । वह लेख मैंने बीस साल पहले लिखा था, जो मेरी किसी किताब में संकलित नहीं है । इसीलिए शायद लोगों ने उसे पढ़ा भी नहीं होगा । केवल एक आदमी हिंदी में मिला, जिसने पढ़ा ही नहीं बल्कि अपनी किताब '1857 और भारतीय नवजागरण' में उस पर टिप्पणी भी की । प्रदीप सक्सेना की यह मोटी-सी पुस्तक है । उन्होंने 10 साल बाद 1996 में यह किताब लिखी । प्रदीप सक्सेना ने अपनी इस किताब में मेरे एक लेख पर लगभग 100 पेज की टिप्पणी लिखी है और मेरे विचारों का खंडन किया है । वह मेरे लिए इस दृष्टि से बहुत मूल्यवान है । जो मुख्य

मुद्दा उन्होंने उठाया है आज गोष्ठी में इस पर विचार होना चाहिए कि 1857 और तथाकथित नवजागरण में क्या संबंध है । 1857 और भारतीय नवजागरण में संबंध है या नहीं । 'रेनेसांस' का ही हिंदी अनुवाद है नवजागरण । ये 'नवजागरण', बंगाल नवजागरण के नाम से 1857 से लगभग 50 साल पहले राजा राममोहन राय के जमाने में इस्तेमाल कर लिया गया था । इसलिए जब 1857 नहीं था तब से भारत में 'नवजागरण' की चर्चा हो रही थी, अगर 1857 से पहले हमारे यहाँ लोग नवजागरण महसूस कर रहे थे तो 1857 के बाद फिर कौन से नवजागरण हैं, जो बार-बार हो रहे हैं ।

हम लोगों की आदत है कि एक चीज को बार-बार पीटते रहते हैं । कुछ लोग चौदहवीं-पंद्रहवी शताब्दी के भक्ति आंदोलन को भी नवजागरण करते हैं । ये ऐसा नवजागरण है कि जब आपकी नींद खुलती है तभी नवजागरण हो जाता है। यूरोप तो मर रहा है एक नवजागरण करके और हम भारत में लोग इतने समृद्ध हैं कि हमारे यहाँ रोज-रोज नवजागरण हो रहा है । इसलिए 1857 पर विचार करने का हक इतिहासकारों का है, यह उनका क्षेत्र है और तीसरे यह कि जिन लोगों ने संगीत रचना की है चाहे वे पढ़े-लिखें हों, किसान हों, कारीगर हों, चाहे मजदूर हों, उन लोगों ने प्रतिक्रिया व्यक्त की है ।

ये तमाम लोग अपने-अपने ढंग से कहेंगे क्योंकि यहाँ इतिहास के इकलौते प्रो.सुधीरचंद्र मौजूद हैं, जो साहित्य के भी आदमी हैं । यहाँ मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि कुछ शब्दों को और उनकी परिभाषाओं को सुनिश्चित करने के बाद बातचीत करें । मैं यह इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि बीस साल पहले भी मेरे मन में यह सवाल था कि 1857 और जिसे हम

नवजागरण कह रहे हैं वह एक पर्याय नहीं है । इनमें कुछ संबंध बनता है, लेकिन वह संबंध क्या है ? किस प्रकार का है ? यह तब भी साफ नहीं था और बहुत कुछ पढ़ने के बाद आज भी मेरे मन में साफ नहीं है । दूसरी महत्वपूर्ण बात है कि आप कहाँ से देख रहे हैं । खुद उस दौर के लोग उसको क्या समझते थे ? 1857 में जो घटित हुआ और जो लोग स्वयं उसका गवाह रहे, वे उसको क्या समझते थे और उस दौर के खत्म होने के बाद बीसवीं सदी में आजादी से पहले लोग उसे किस रूप में देखते थे ।

मैं आजादी के पहले इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि बहुत-सी बंदिशों अंग्रेजों ने लगा रखी थी । खुलकर लोग अपनी बात नहीं कह सकते थे । भारतेंदु से लेकर 1946 तक कुछ ऐसी पाबंदियाँ थीं जिनके कारण किताबें बैन भी होती थीं । इसलिए वे सांकेतिक भाषा में बात करते थे । इसकी चर्चा बाद में करूँगा । 1957 में जब 1857 की शताब्दी मनाई गयी थी, उस समय लोगों ने जो बातें कहीं थीं और आज जो कह रहे हैं वह एक नहीं हैं । 1957 में सुरेंद्रनाथ सेन ने किताब लिखी थी, कई लोगों ने लिखी थीं । सरकारी किताबें भी छपी थीं । भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने पी.सी.जोशी के संपादन में एक विशेषांक निकाला था । आज पचास साल के बाद फिर 1857 पर विचार किया जा रहा है । इस समय जो किताबें लिखी जा रही हैं वे वही नहीं हैं जो 1957 में लिखी गयी थीं । सावरकर ने जब किताब लिखी थी और सावरकर के पहले जिन लोगों ने भाग लिया था । ` क्या सोचते थे इनके बारे में । इन तमाम चीजों को ध्यान में रखे और यह देखें कि जिन्होंने हमारे ऊपर कहर ढाया वे अंग्रेज इसे किस रूप में देखते थे और जो हम लोग शिकार थे उसके, हम क्या समझते थे । मैं यह इसलिए कह रहा हूँ, क्योंकि अभी अंग्रेजों ने 1857 के बारे में लिखना बंद नहीं किया है ।

अभी हाल में विलियम डेलरिंपल की किताब आयी है 'द लास्ट युगल्स' जिसकी बड़ी समीक्षाएँ हमारे देश में हुई हैं । अंग्रेजों ने 1857 के बारे में लिखना सोचना-बंद नहीं किया है इसलिए कहाँ से कौन देख रहा है इन तमाम चीजों के बारे में देखना-समझना बहुत महत्वपूर्ण हैं । अपनी स्थिति स्वयं देखें कि हम कहाँ से देख रहे हैं । खुद इस देश में भी कांग्रेसी उसको उस रूप में नहीं देखते जिस रूप में आर.एस.एस. और बीजेपी वाले देखते हैं । जिस रूप मे ंहिंदू देखता है उसी रूप में मुसलमान नहीं देखता है । उर्दू का लेखक उसी रूप में नहीं देखता है । जनजातियाँ जो उस समय सताई गयी थीं वह किस रूप में देखती हैं और शहरों के लोग किस रूप में देखते हैं, सब एक नहीं है । दलित उसको किस रूप में देखते हैं और गैर दलित किस रूप में देखते हैं । क्योंकि आज भी अंग्रेजी में आने वाली किताबें बताना चाहती हैं कि 1857 में जिस बंगाल आर्मी ने (जो उस समय सबसे बड़ी थी) संघर्ष में हिस्सा लिया था उसमें ज्यादातर लोग सवर्ण थे । उच्च वर्ग के, उसमें भी ब्राह्मण सबसे ज्यादा थे और वे ब्राह्मण अवध के थे । मैं आपका ध्यान इसलिए आकृष्ट करना चाहता हूँ क्योंकि इस विषय पर साहित्य बहुत लिखा गया । उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटकों में और राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास जैसे अनेक लेखकों के उपन्यासों को ढंग से पढ़ें तो ऊपर से लगेगा कि साहब ये लोग तो निराशा और पराजय की बात कर रहे हैं । बल्कि 1857 कहीं है ही नहीं और दूसरे ढंग से पढ़ने पर लगता है कि ये गुप्त सांकेतिक रूप में ज्यादा भडक़ाऊ हैं, क्योंकि सेंसर के कारण खुलकर 1857 को लिख नहीं सकते थे ।

उन्हीं कविताओं में उन्हीं उपन्यासों में और उन्हीं नाटकों में इतने सारे साहित्य जहाँ लिखे गये हों । इसका मतलब है कि उस साहित्य में सेंसर के कारण वे बहुत-सी चीजें खुलकर नहीं कह सकते थे । इसलिए नये सिरे से उस साहित्य को पढ़ने की जरूरत है । अब तक हम जिस रूप में पढ़ते थे शायद वह गलत था । इसलिए मैंने कहा कि कई समस्याएँ उलझी हुई हैं । इन उलझी हुई समस्याओं में मुख्य सवाल यह है कि 1857 को, अपने इतिहास को समझने के लिए हम लोग पश्चिम की अवधारणा लें या उसे छोडक़र दूसरी अवधारणा बनाएँ। अंग्रेजी शिक्षा का यहाँ जबसे प्रचार हुआ तब से 'रैनेसांस' शब्द हमारे पास आया जो कि यूरोप की बड़ी भारी घटना मानी जाती थी । भारत में जब अंग्रेज आये तो वे बताने लगे कि उनके आने से हिंदुस्तान में एक नया जागरण पैदा हुआ । उनका मानना था कि अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से और उन्होंने जिस तरह का शासन और अर्थतंत्र चलाया इन तमाम चीजों के माध्यम से भारत में नवजागरण आया । उनका मानना था कि उनके आने से पहले पूरा हिंदुस्तान मध्ययुग में था । अंग्रेजों ने यह साबित करने की कोशिश की कि हमारे आने से वह ठहराव दूर हुआ है । एक नया जीवन आया है और नये युग में भारत प्रवेश करता है ।

हमारे समय में हम भारतीयों में से कुछ लोग आगे बढ़े हुए लोग थे, उन्होंने मान भी लिया कि ये 'रेनेसांस' है । इस संदर्भ में दो उद्धरण मिलते है । राममोहन राय ने एलेक्जैंडर डफ से कहा था कि हमें ऐसा लगता है कि पश्चिम के प्रभाव से हमारे यहाँ रेनेसांस जैसी चीज हो रही है । दूसरा एक फादर और है जिसने 'हिस्ट्री ऑफ हिंदी लिटरेचर' नाम का एक लेख लिखा । उसने लिखा है कि पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से और उसकी प्रेरणा से हिंदी साहित्य में 19वीं शताब्दी से रेनेसांस का आरंभ हुआ । यानी

रेनेसांस की जो धारण है ये दो पादरियों से संबंधित है । क्योंकि वे समझ रहे थे कि पिछड़े हुए हिंदुओं और पिछड़े हुए मुसलमानों के देश में ईसाई आकर के बाइबिल के द्वारा और अपने धर्मज्ञान के द्वारा एक नये जागरण का अलख जगा रहे हैं । हम लोग भेड़-बकरी की तरह थे और इन दोनों को वे जगा रहे हैं । इसलिए उनके द्वारा रेनेसांस शब्द का प्रयोग किया गया । हम लोगों के जहालत की यह सबसे बड़ी पहचान है कि आज उसको हम आँख मूँदकर बड़े गर्व के साथ अपनाए हुए हैं । हमें यह समझना चाहिए कि एक कान्सैप्ट विशेष, एक सांस्कृतिक अर्थ में यूरोप में इस्तेमाल किया गया शब्द 'रैनेसांस' है । ध्यान रखिए इटैलियन रैनेसांस यूरोप में इस्तेमाल किया शब्द 'रैनेसांस' है । ध्यान रखिए इटैलियन रैनेसांस यूरोप में स्वतः स्वीकार किया गया लेकिन मैं नहीं जानता कि इंगलिश लिटरेचर का इतिहास लिखते समय लोग चौसर के जमाने को या शैक्सपियर के जमाने को रैनेसांस कहते हैं कि नहीं । हमने जो इंग्लैंड का इतिहास पढ़ा था उसमें आमतौर से अंग्रेज उसे रिफोर्मेशन कहते हैं । रैनेसांस का प्रयोग इटैलियन और खास तौर से सेंट्रेल यूरोप से कुछ और शब्द आये जिसे प्राचीन ग्रीक से अनुवाद कर अपनाया गया । नयी पेंटिंग आयी, दुनिया भर की चीजें आयी हैं । उन अवधारणाओं को उन लोगों ने रिओरिएंटिलिज्म कहा है ।

रैनेसांस एक ऐसा कान्सेप्ट है जिस पर बहुत गहरायी से विचार करने की जरूरत है । यह इसलिए जरूरी है, क्योंकि वे कहना चाहते हैं कि सूरज पश्चिम में पहले उगा पूरब में बाद में उग रहा है । रैनेसांस उनके यहाँ चौदहवीं शताब्दी में आया था, भारत में रैनेसांस 19वीं शताब्दी में आया। वे जानते हैं कि सूरज तो कायदे से पूरब में ही उगता है । लेकिन संस्कृति

के ज्ञान का सूरज उनके अनुसार पश्चिम में पहले उगा । ठीक 19वीं शताब्दी के आरंभ में जो राममोहन राय कह रहे थे उससे कुछ ही समय बाद बंकिमचंद्र चटर्जी बिलकुल दूसरी बात कह रहे थे । बंकिम ने कहा था कि हमारे यहाँ रेनेसांस पहली बार तो चैतन्य के ज़माने में हुई थी । बंगाल रैनेसांस का आरंभ राममोहन राय स कुछ लोग मानते हैं पर बंकिम कहते हैं नहीं हमारा नवजागरण तो चैतन्य के जमाने से शुरू हुआ था और महान भक्तों ने बंगाल में एक नया जागरण पैदा किया । अगर बंकिम की दृष्टि बंगाल से थोड़ी और व्यापक होती तो उन्हें पता चलता कि चैतन्य के जमाने से भी 500 साल पहले इसी देश में दक्षिण में आलवार, नायनार जैसे सारे लोग जो विशाल भक्ति आंदोलन में शामिल थे, उनका आंदोलन लगभग नवीं, दसवीं शताब्दी से शुरू हो चुका था । ये भक्ति का आंदोलन दक्षिण से आया इसीलिए हमारे यहाँ कहा जाता है 'भक्ति द्राविड़ उपजी लाए रामानंद, परगट किया कबीर ने सात द्वीप नव खंड ।

पश्चिमोत्तर प्रांत में शेख फरीद से आंदोलन शुरू करें तो सूफियों का पूरा का पूरा आंदोलन चिश्ती से शुरू हुआ । नानक से पहले फरीद, बुल्लेशाह, फिर वारिसशाह, पूरी सूफियों की परंपरा है । जैसा कि मैंने पहले कहा कि उस हिसाब से देखें तो कबीर से लगभग 100 साल पहले हिंदी में यह आंदोलन शुरू हो चुका था । मौलाना दाउद दमोह के रहने वाले थे । उसके ठीक बाद मलिक मोहम्मद जायसी । पूरी सूफियों की परंपरा है । एक नया जागरण सूफियों के साथ हमारा शुरु होता है । गुजरात में भक्ति आ चुकी थी, महाराष्ट्र में आ चुकी थी । ज्ञानेश्वर से लेकर तुकाराम तक पूरी परंपरा है महाराष्ट्र में, गुजरात में और उड़ीसा में । सरला दास का महाभारत तो है ही, जगन्नाथ दास का भागवत और पूरी

भक्तों की एक लंबी परंपरा है । लगभग यही विशाल परंपरा अनेक जनजातियों के इलाकों में है । जो असम में दिखायी देता है । इसलिए जब बंकिम कह रहे थे कि हमारा नवजागरण जिसको यूरोप में जब रेनेसांस हुआ था लगभग उसी के आसपास हुआ तो ध्यान देने की बात यह है कि ये आंदोलन की एक नयी भाषा पैदा कर रहे थे, जो संस्कृत प्राकृत से अलग लोक भाषा बनी थी । जो पहली बार साहित्य की भाषा थी । यही नहीं नया संगीत उसके साथ आया । भक्ति संगीत और सूफीयाना कलाम । शास्त्रीय संगीत से अलग संगीत ढल गया था । उस समय के स्थापत्य को देखें, आर्कीटैक्चर, पेंटिंग, संगीत, चित्र, सच्चे अर्थों में जैसे इटली का रैनेसांस हुआ था ।

अंग्रेज कह रहे थे कि 19वीं शताब्दी में वह भारतवर्ष में रैनेसांस ले आये थे, दरअसल अंग्रेजों को उसका कोई श्रेय नहीं है । उनके आने के पहले उनके दौर के आसपास ही अपने आप यूनान और रोम से प्रेरणा लिए बिना अपनी परंपराओं से हम लोगों ने आंदोलन चलाया । लगभग पूरे एशिया को मिलाकर देखें तो शायद चीन और जापान के साथ हमारे संबंध ज्यादा जुड़ेंगे । जैसे कि पूर्व मध्य के साथ, इरान और इराक अरब देशों के साथ और मध्य एशिया के साथ । इसलिए रेनेसांस या नवजागरण जिसे कहते हैं वह नवजागरण 19वीं शती में अंग्रेजों द्वारा प्रचारित ओरिएंटलिज्म और क्रांतिवाद की गिरफ्त में आता है और यह दिमागी उड़ान भी ज्यादा ख़तरनाक है । 19वीं शताब्दी और खास तौर से स्वाधीन भारत में और एडवर्ड सईद की किताब लिखने के बाद भी भारत के बुद्धिजीवी उसकी गिरफ्त में हैं तो लानत है ।

19वीं शताब्दी में महाराष्ट्र में उसको प्रबोधन काल कहते थे । ये फुले, अगरकर और रजवाड़े का जमाना था जो इसके लिए प्रबोधन काल शब्द का प्रयोग करते थे । गुजरात में इसको सुधार युग कहते थे । हमारे यहाँ उसे सुधार कहते थे । इसलिए एक तरह का रिफार्मेशन था, जिसमें सामाजिक समस्याओं पर विचार किया गया । क्योंकि 1857 की राजनीतिक क्रांति से उन लोगों ने खिडक़ी खोलने की कोशिश की । उससे लड़ाई करने के लिए जरूरी है कि दलितों और स्त्रियों की दशा पर जो ज्यादा बुनियादी काम है, किया जाना चाहिए। इसलिए उस दौर में इसे पुनरुत्थान कहते थे, पुनर्जागरण कहते थे, सुधार कहते थे, प्रबोधन कहते थे । इन सारे शब्दों का प्रयोग करते थे ।

भारतेंदु और उस दौर की यह चिंता नहीं थी । 1857 में भारत ने आजाद होने की कोशिश की । भारतेंदु स्वतंत्रता की बात नहीं करते हैं । भारतेंदु तो उन्नति की बात करते हैं । भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो । वह ये नही ंलिखते हैं कि भारत स्वतंत्र कैसे हो । 1857 में हम ऐसे पिटे कि वे समझ गये कि अब स्वतंत्रता के लिए तो हम आवाज नहीं दे सकते । कुछ साल तो कम से कम नहीं देंगे । हम तो उन्नति की बात सोचें, सुधार की बात सोंचें, ये दब कुचले लोग ऊपर कैसे उठें ? उस दौर में ज्यादातर लोग आपको इस दिशा में सोचते दिखायी पडेंगे, बावजूद इसके कि सावरकर ने अपनी किताब का नाम 'दि फस्ट वार आफ इंडिपैडेंस' (ाहला स्वाधीनता संग्राम) रखा । कुछ लोग कहेंगे कि सावरकर ने ठीक ही कहा था क्योंकि मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं का जो संकलन मास्को से छपा तो उसका टाइटिल यही है 'फस्ट वार आफ इंडियन इंडिपेंडेंस' । यद्यपि चश्मा लगाकर देखने वालों ने उस किताब को यहाँ से वहाँ तक खोज कर देखा तो

कहीं भी स्वयं मार्क्स ने 1857 को 'फस्ट वार आफ इंडिपेन्डेन्स' नहीं कहा । लेख बहुत लिखे मार्क्स ने पर ये लफ्ज़ इस्तेमाल नहीं किया । पर मास्को वाले हम लोगों की देखादेखी हमारी आँख में धूल झोंक रहे हैं और मार्क्स के नाम पर गलत बात कह रहे हैं । मार्क्स की किसी किताब में 'ये वार आफ इंडिपेन्डेंस' सचमुच था कि नहीं, ये अपने आप में एक बहस की चीज़ है और इतिहासकार लोग यह कर रहे हैं ।

बेहिचक लिखने वाले जवाहरलाल नेहरू को भी अपनी किताब में यह बात कहने की हिम्मत नहीं हुई । 1857 ठीक-ठीक क्या था ? इस पर इतिहास के लोग और अभी जिन दस्तावेजों के आधार पर दावा किया जा रहा है – परशियन और उर्दू के उनमें डेलरिंपल ने दावा किया है कि उन चीजों को भारत के इतिहासकारों ने नहीं देखा था, मैंने पहली बार देखा है । लेकिन देखने वालों ने इसलिए भरोसा छोड़ दिया क्योंकि उन डक्यूमेंट्स को अंग्रेजों द्वारा ही जारी किया गया है । अर्थात् उन्हीं के द्वारा ही बनाया हुआ है ।

बहरहाल यह एक बुनियादी बात है । मेरी दिलचस्पी इस बात में थी कि सारी चर्चा नवजागरण की होती है, 1857 की होती है । इन सारी चर्चाओं में एक आदमी का जिक्र कोई नहीं करता है जिसका नाम गांधी है । गांधी इन चीजों को क्या समझते थे । पहली बार मेरी आँख तब खुली जब राजमोहन गांधी की किताब 'रिवेंज एंड रिकौंसिलिएशन' 1999 में छापी । राजमोहन गांधी की उस किताब का जो आठवाँ अध्याय है उसमें राजमोहन गांधी खुद कहते हैं - गाँधी जी का जिक्र 1857 के सिलसिले में कहीं कोई नहीं करता है कि गांधी जी भी उससे वाकिफ थे । राजमोहन गांधी की कित्ाब में आप पढ़िएगा तो लगेगा कि 1893 से लेकर 1947 तक मरने के

एक दो महीने पहले तक म्यूटिनी या गदर की स्मृति बराबर हर मौके पर गांधी के साथ रही । राजमोहन गांधी ने जिक्र किया है कि 'हिंद स्वराज' लिखने से पहले गांधी जी जब लंदन में पढ़ रहे थे तो उनके अध्यापक टोरी ने उनसे कहा कि तुमने 'सिपाही विद्रोह' पर मालेशन की लिखी किताब पढ़ी है । गांधी जी लंदन में वह किताब नहीं पढ़ सके । प्रीटोरिया, दक्षिण अफ्रिका में उन्होंने यह किताब पढ़ी और फिर 'हिंद स्वराज' लिखा और मदनलाल धींगरा ने जो बम फेंका था उस पर अपनी टिप्पणी व्यक्त की । वहाँ के क्रांतिकारी आंदोलन में भाग लेने वालों से गांधी जी की बहस हुई । वह उत्तेजित हो कर लौटे, उस उत्तेजना में ही उन्होंने हिंद स्वराज लिखा है।

वे सब लोग लावरकर उनमें से एक थे जिन्होंने 1857 पर पूरी किताब लिखी । गांधी का कहना था उनकी समझ बनी कि 1857 की क्रांति भारत के हाथ एक सबक है कि इसका बदला हथियार से तुम लेना चाहोगे तो फिर तुम्हारी वही गति होगी जो 1857 में हुई थी । बल्कि 1857 का जो सिपाही था, वह सिपाही अब वही सिपाही नहीं रहा । इसीलिए गांधी ने कहा कि जिन कारणों से हम हारे हैं और अंग्रेज जीते हैं उसका अच्छी तरह से अध्ययन करके आगे बढ़े । अब संघर्ष का रास्ता बहुत लंबा हो सकता है । बल्कि दुश्मन इतना चालाक है और इतना ताकतवर है जो पहला महायुद्ध जीत चुका है, दूसरा महायुद्ध भी जीत चुका है । हिटलर को जो हरा सकता है उसको तुम हथियार से लड़कर देश से नहीं भगा सकते हो । ये बात गांधी ने 1908 में लिखी । जब जलियाँवाला बाग हुआ, उस पर टिप्पणी की गांधी ने । उसके बाद चौरी-चौरा की घटना हुई, उस पर टिप्पणी की । अंत में 1947 में पार्टीशन के जो दंगे हो रहे थे, तब उन्होंने टिप्पणी की है । उसके दो तीन अंश हमें पता है । इसलिए गांधी को हर संघर्ष के दौर में

1857 याद आता था और उन्होंने उसे याद कर उससे दो चीजें निकाली थी- चोरीचोरी (1920) के बाद जब मुकदमा चला, तमाम लोग पकड़े गये, बाद में फाँसी हुई, जेल भेज दिये गये । गांधी ने 1909 में कहा कि जो बम आज अंग्रेज पर गिरा है, जब अंग्रेज यहाँ नहीं रहेंगे तो वही बन भारतीयों पर गिरेगा और गांधी ने अंत में दिखा दिया कि वही गोली हिंदू पर दगी थी, गांधी पर दगी थी । वह गोली जो अंग्रेज पर किसी जमाने में दागी गयी थी, वही गोली खाए गांधी । 1946 में संभवत: हमारे यहाँ नौसेना विद्रोह हुआ था। जिस तरह से एक सिपाही विद्रोह 57 में हुआ था ठीक उसी प्रकार का भारतीय नौसेना ने विद्रोह किया और तब अंग्रेजों की समझ में आ गया कि कहीं 1857 फिर न घटित हो, इसलिए एक नये ढंग से देश के दो टुकड़े करवा दिये थे ।

'1857 और नवजागरण' इन दोनों संबंधों पर विचार करते समय 1857 पर बहुत गहरायी से विचार करने को जरूरत होगी । इसी तरह से नवजागरण पर भी । इस सिलसिले में हम अंग्रेजों द्वारा या पश्चिम द्वारा प्रचारित अवधारणाओं या परिभाषाओं पर भी नये सिरे से विचार करें, क्योंकि तब सोचना पड़ेगा कि कौनसा शब्द 1857 के लिए कहें । कुछ लोगों ने रिवोल्यूशन कहा है । कुछ लोगों ने रिवोल्ट कहा है, कुछ ने रिवोलियन कहा है, कुछ लोगों ने वार कहा है । 'वार आफ इंडिपेंडेंस' । ये सारे शब्द जो हम प्रयोग कर रहे हैं, अनजाने ही जो नाम दने की कोशिश कर रहे हैं जबकि स्वयं वह बच्चा अनाम है । इन नामों के साथ हिंदी या उर्दू में दिये गये नाम भी अजीब हैं - गदर है, बगावत है । मैं देख रहा था कि बगदाद में गदर माने क्या होता है क्योंकि गदर शब्द अलग होता है ग-द-र । दूसरा शब्द होता है विद्रोह । गुस्ताख, गद्र इसी से बनता है आगे जाकर गद्दार

और गद्दारी । तो अरबी शब्द है गद्र, लेकिन वही बगावत नहीं है, बगावत बिलकुल अलग चीज है । वह देशद्रोह है, सिपाही द्रोह है कि विद्रोह है, वह रिवोल्यूशन है तो कौन सा रिवोल्यूशन है । राजक्रांति, नेशनल रिवोल्यूशन है, पूरे राष्ट्र में हुआ इसमें कोई शक नहीं है । वह हिंदी नवजागरण नहीं, वह न केवल हिंदी क्षेत्र का है बल्कि सारे भारतवर्ष का है । दूसरे, विद्रोहों की एक लंबी परंपरा है सौ-डेढ़ सौ सालों की । प्लासी की लड़ाई से शुरू होकर अंग्रेजों के जमाने तक कोई वर्ष नहीं बीता है जब कहीं न कहीं विद्रोह न हुआ हो । उनकी चरम परिणति 1857 में जाकर हुई । इन लंबी परंपराओं पर क्या उसी तरह से लोगों ने विचार करने की कोशिश की ? कोई विचारधारा थी कि नहीं थी । वह राजनीतिक था या आर्थिक था । इतिहास पर कहने का अधिकार मुझे नहीं है लेकिन उस समाज की जो तस्वीरें हमारे साहित्य में आयी हैं उस साहित्य को गौर से दुबारा पढ़ाना जरूरी है ।

ग़ज़ल की प्रकृति एवं उसका स्वरूप

ग़ज़ल की व्युत्पत्ति :

ग़ज़ल की व्युत्पत्ति के संदर्भ में कुछ के मतानुसार अरब में ग़ज़ल नामक एक कवि था जिसने अपनी सारी आयु, प्रेम एवं मस्ती में ही बिता दी। उनकी कविताओं का वर्ण्य विषय सदैव प्रेम ही हुआ करता था । अतः कालान्तर में इस ग़ज़ल नामक कवि के नाम पर इस प्रकार की प्रेम परक कविताओं को ग़ज़ल की संज्ञा दी गई ।

कुछ विद्वान ग़ज़ल का सम्बन्ध अरबी के ही अन्य शब्द 'ग़ज़ल' से मानते हैं। जिसका अर्थ है – मृग । अतः यह हो सकता है कि हिरन जैसे नेत्रों वाली सुन्दरियों के सम्बन्ध में लिखी गई छन्दोमय प्रेम कवितायें ही ग़ज़ल की संज्ञा से अभिहित की जाने लगी हों । परन्तु ग़ज़ल का व्युत्पत्ति विषयक सम्बन्ध ग़ज़ल या मृग से जोड़ना समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि भारत में मृग के नेत्र सुन्दरता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ अवश्य ही दिखाई देते हैं जबकि अरब या ईरान में नरगिसी नेत्र को महत्व दिया जाता है अतः यह तथ्य शांतिपूर्ण प्रतीत होता है ।

इस प्रकार ग़ज़ल के शाब्दिक अर्थ एवं व्युत्पत्ति के संबंध में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ग़ज़ल शब्द अरबी भाषा का ही है जो प्रेमी और प्रेमिक के वार्तालाप के अर्थ में प्रयोग किया जाता रहा है ।

धीरे-धीरे ग़ज़ल, प्रेम की संकीर्ण परिधि से बाहर निकल कर प्रेम के व्यापक रूप में प्रयोग की जाने लगी । दरबारी संस्कृति एवं सभ्यता के प्रभाव में आकर ग़ज़ल, जो वासनात्मक प्रेम की अभिव्यक्ति का माध्यम बन

चुकी थी, परवर्ती कवियों ने उसे व्यापक आयाम प्रदान किया और ग़ज़ल के अन्तर्गत प्रेमिका की कंघी, चोटी, अँगिया, कुर्ती के वर्णन के स्थान पर पवित्र प्रेम यथा पारिवारिक प्रेम, ईश्वर प्रेम, देश-प्रेम आदि भावनाओं की अभिव्यंजना होने लगी । इस प्रकार ग़ज़ल अपने संकुचित शाब्दिक अर्थ से हटकर व्यापक स्वरूप में कवियों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी ।

कुछ भी हो ग़ज़ल अरब एवं ईरान जैसे विदेशी पर्यावरण में पलकर भी अपने में इतनी मधुरता, इतनी सुन्दरता, इतनी मादकता, इतनी ध्वन्यात्मकता एवं इतनी प्रभावोत्पादकता सँजो सकी कि वह भारत के बहुभाषी कवियों का कण्ठहार बन गई।

ग़ज़ल की परिभाषा एवं क्षेत्र की व्यापकता :

जैसा हम पहले कह चुके हैं कि ग़ज़ल एक प्राचीन किन्तु लोकप्रिय विधा रही है । ग़ज़ल की व्युत्पत्ति विषयक धारणा को लेकर प्रायः ग़ज़ल मर्मज्ञों में थोड़ा बहुत मतान्तर रहा है, किन्तु वे सभी इस बात से सहमत है कि ग़ज़ल प्रेमाभिव्यक्ति का सशक्त एवं प्रभावोत्पादक माध्यम है । अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से ग़ज़ल को परिभाषित किया है ।

ग़ज़ल अरबी भाषा का (स्त्री लिंग) शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है प्रेमी तथा प्रेयसी का वार्तालाप । प्रेमी तथा प्रेयसी के मध्य अनेक प्रेम दशायें जैसे अनुनय, विनय, मिलन, वियोग, जलन, पीड़ा उपालम्भ आदि आती हैं । अतः अपने प्रारंभिक रूप में ग़ज़ल के माध्यम से इन्हीं प्रेम भावनाओं का अभिव्यक्तीकरण किया जाता था।

रुद्र काशिकेय के शब्दों में वस्तुतः कोश के अनुसार ग़ज़ल का शाब्दिक अर्थ बार-बार बातचीत करना है ।[23]

हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1 (पारिभाषिक शब्दावली) में भी ग़ज़ल का अर्थ नारियों से प्रेम की बातें करना ही मिलती है ।[24]

उर्दू साहित्य के सुप्रसिद्ध समालोचक एवं ग़ज़ल के पुनरुत्थान के पक्षधर मौलाना अल्ताफ हुसेन हाली के मतानुसार जहाँ तक ग़ज़ल की मूल प्रकृति का संबंध है, उसका विषय प्रेम के अतिरिक्त कुछ और नहीं ।[25] उन्होंने एक अन्य स्थान पर ग़ज़ल की व्याख्या करते हुए लिखा है - ग़ज़ल में जैसाकि विदित है, किसी विशेष विषय का क्रमबद्ध वर्णन नहीं होता, अपितु अलग-अलग विचार, अलग-अलग पद्यों में व्यक्त किये जाते हैं । अपने वर्तमान रूप में ग़ज़ल का प्रचलन पहली ईरान में और कोई डेढ़ सौ वर्ष से भारत में हुआ है । यद्यपि मूलत: ग़ज़ल की रचना जैसाकि ग़ज़ल शब्द से प्रकट है, केवल प्रेम संबंधी विषयों की अभिव्यक्ति के लिए हुई थी, किन्तु बहुत दिनों के बाद उसका यह रूप सुरक्षित न रह सका ।[26]

उक्त परिभाषा के अनुसार हमें यह ज्ञात होता है कि अपने आरंभिक काल में ग़ज़ल का संबंध प्रेम भावनाओं के चित्रण से था । ग़ज़ल के अलग-अलग पदों में प्रेम की अलग-अलग दशाओं के चित्र मिलते थे, किन्तु दरबारी संस्कृति के पश्चात कालान्तर में प्रेम भावनाओं के अतिरिक्त परिवेशजन्य समस्याओं का चित्रण भी ग़ज़ल के अन्तर्गत किया जाने लगा । हाली ने ग़ज़ल के संबंध में अपनी पुस्तक "मुकद्दमा-ए-शेरो-शायरी" में अनेक सुझाव भी प्रस्तुत किए हैं जिनसे ग़ज़ल के वर्ण्य विषय में परिवर्तन हुआ और वह राजनीतिक, सामाजिक एवं व्यंग्यात्मक स्वरों को भी अपने प्राचीन छन्द-बन्ध में बाँद सकने में समर्थ हुई ।

उर्दू साहित्य के ही एक दूसरे आलोचक एवं कवि श्री फ़िराक़ गोरखपुरी ने ग़ज़ल के विषय में लिखा है - ग़ज़ल असंबद्ध कविता है । ग़ज़ल का मिज़ाज मूलतः संपूर्णवादी होता है ।[27]

वास्तव में ग़ज़ल का प्रत्येक शेर अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है । किसी एक ग़ज़ल में एक ही केन्द्रीय भाव की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न शेरों के अन्तर्गत अनेक शब्दचित्र प्रस्तुत किये जाते हैं । वास्तव में यदि देखा जाय तो शेर छन्दः शास्त्र के नियमों में आबद्ध एक ही भाव के अनेक शब्दचित्र हैं । जब हम एक ही तथ्य को अनेक दृष्टान्तों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं तो उसकी प्रभावोत्पादकता में अभिवृद्धि होती है । ठीक यही स्थिति ग़ज़ल की है । ग़ज़ल का प्रत्येक शेर असंबद्ध होते हुए भी केन्द्रीय भाव को प्रदर्शित करने में अपना योगदान देता है । फिराक साहब की उक्त परिभाषा के अनुसार ग़ज़ल का स्वभाव मूलतः संपूर्णवादी होता है । वास्तव में ग़ज़ल का प्रारंभिक स्वरूप प्रेमालय से ओतप्रोत था । प्रेम का समर्पण से अत्यन्त ही निकट का संबंध है । कोई लेन-देन अथवा व्यापार की भावना नहीं है । प्रायः यह देखा गया है कि हम जिससे प्रेम करते हैं, उसके प्रति हमारे हृदय में बिना किसी लालसा के संपूर्ण की भावना निहित रहती है । इसलिए ग़ज़लकार जब लेखनी चलाता है तो निश्चय ही उसकी रचना में प्रिय के प्रति संपूर्ण की भावना का प्रतिबिम्ब मिलता है ।

ग़ज़ल के विषय में प्रोफेसर ख्वाजा अहमद फ़रूकी का कथन है कि ग़ज़ल के माने उस कराह के भी है जो गिज़ाल (हिरन) तीर चुभने के बाद बेकसी के आलम में निकलता है । इसलिए ग़ज़ल में दुनिया की नापायदारी और दर्दमंदी का अक्सर जिक्र किया गया है । हक़ीक़त यह है कि ग़ज़ल

का दामन विशाल है और उसमें हर विषय पर शेर कहे गये हैं । ग़ज़ल की खास खूबी उसकी संक्षिप्तता है ।[28]

पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने अपने ग्रंथ "उर्दू ज़बान का संक्षिप्त इतिहास" में ग़ज़ल का अर्थ जवानी का हाल बयान करना अथवा माशूक की संगति और इश्क का जिक्र करना बताते हुए लिखा है कि एक ग़ज़ल में प्रेम के भिन्न-भिन्न भावों के शेर लाने का नियम रखा गया है । किसी शेर में आशिक अपनी मनोवेदना प्रकट करता है, जिससे माशूक पर उसका कुछ प्रभाव पड़े । किसी शेर में वह माशूक की प्रशंसा करता है जिससे वह प्रसन्न हो । किसी शेर में वह माशूक की वफ़ा और ज़फ़ा का जिक्र करता है और किसी में रकीब की शिकायत करता है । मतलब यह कि जिस बात के कहने से मशूक के प्रसन्न होने या और कोई खास नतीजा मिलने की आशा होती है, वही बातें ग़ज़ल में आती हैं ।[29]

हिन्दी के सुप्रसिद्ध समालोचक डॉ.नगेन्द्र ने भी इसी संबंध में कहा है - ग़ज़ल उर्दू का सर्वाधिक प्रसिद्ध और सरस भेद है । उसका स्थायी भाव प्रेम है जिसमें रहस्यानुभूति, मस्ती, रिन्दी, धार्मिक विद्रोह आदि भावनायें संचारी रूप में ओतप्रेत रहती है । विषय के अनुरूप उसका एक विशिष्ट काव्यरूप भी है जो मतला, मकता, गिरह, क़फ़िया और रदीफ़ में परिबद्ध रहता है ।[30]

ग़ज़ल साहित्य के अनुभवी अध्येता श्री चानन गोविन्दपुरी के शब्दों में ग़ज़ल उर्दू कविता का सर्वश्रेष्ठ अनूठा और सशक्त काव्यरूप है । इसका जन्म फ़ारसी भाषा में हुआ, फिर उर्दू वालों ने इसको अपनाया और इसने हमारे देश में आकर अपने रचनात्मक स्वरूप के शिखर बिन्दुओं को छुआ।[31]

ग़ज़ल के विषय में सुप्रसिद्ध ग़ज़लकार श्री रुद्र काशिकेय का मत है कि ग़ज़ल कभी अपने शाब्दिक अर्थ में सीमित नहीं रही । इसका व्यापकता

की परिधि सदैव भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों और विचारों से भरी-पूरी रही है। ग़ज़ल के कवियों ने ईश्वरीय प्रेम के साथ ही सांसारिक प्रेम की भी अभिव्यंजनाएं की हैं।[32]

डॉ.नरेन्द्र वशिष्ठ का मत है कि ग़ज़ल का मूल क्षेत्र नारी विषयक भावों से संबंधित है । दरअसल ग़ज़लगोई का अधिकतर संबंध विरहजन्य व्यथा से रहा है। अतः इसमें हृदय को छू लेने की क्षमता को बहुत ऊँचा गुण माना गया है ।[33]

उर्दू और हिन्दी के तुलनात्मक अध्ययनकर्ता डॉ.नरेश ने अपने शोध प्रबन्ध में लिखा है कि ग़ज़ल में प्रेम भावनाओं का चित्रण होता है । ग़ज़ल की असली कसौटी भावोत्पादकता मानी जाती है ।[34]

इस प्रकार अनेक विद्वानों द्वारा ग़ज़ल की जो परिभाषायें दी गई हैं, उनसे उसके किसी न किसी पक्ष का उद्घाटन होता है । कोई ग़ज़ल को प्रेमाभिव्यक्ति का माध्यम मानता है तो कोई इसे गेयात्मक विधा बताता है । कोई ग़ज़ल में प्रभावोत्पादकता के दर्शन करता है तो किसी को ग़ज़ल गागर में सागर भरने वाली तरुणी के समान प्रतीत होती है । डॉ.फ़िराक़ गोरखपुरी ने एक स्थान पर इसे दर्द भरी तथा दिल की गहराई से निकली हुई आवाज कहा है ।[35]

दरबारी संस्कृति में पली ग़ज़ल के अपने परम्परागत परिधि को तोडक़र व्यापकता की ओर अग्रसर होने के संबंध में मुंशी जगत मोहन खां ने उसके महत्व को इस प्रकार काव्य रूप में परिभाषित किया है -

'अल्ला अल्लाह रे ये वसअते दामाने ग़ज़ल,

बुलबुलों गुल ही पे मौकूफ न है शाने ग़ज़ल,

खत्म लेता है दो आलम पे नेपायाने ग़ज़ल,

पूछे कोई हाफ़िज़ शीराज़ से इमकाने ग़ज़ल,

जब्त है आइनये राज़े हक़ीक़त इसमें ।

ये वो कूचा है कि दरिया की है वसअत इसमें ।'[36]

अब प्रश्न उठता है कि क्या इसमें से कोई ऐसी परिभाषा है जो ग़ज़ल के विभिन्न गुणों की शाश्वत व्याख्या कर सके । उत्तर नकारात्मक ही मिलता है । तब हमें समन्वयात्मक दृष्टिकोण से ऐसी परिभाषा खोजनी होगी जो ग़ज़ल की वैज्ञानिक विवेचना प्रस्तुत कर सके । ग़ज़ल पर प्रस्तुत उपयुक्त अनेकानेक परिभाषाओं एवं टिप्पणियों के समग्र अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ग़ज़ल वह गेयात्मक काव्य विधा है जिसमें प्रेम की विभिन्न दशाओं के शब्द चित्र शेरों के माध्यम से प्रस्तुत कर प्रेम की क्रीड़ा-ब्रीड़ा एवं कोमल अनुभूतियों के स्वर हों अथवा सामाजिक, राजनीतिक एवं हास्य-व्यंग्यात्मक भावभूमि पर आम आदमी के मानस में दबी पीड़ा व छटपटाहट को वाणी दी गई हो और जो विषयवस्तु की दृष्टि से व्यापक होते हुए भी संक्षिप्तता एवं प्रभावोत्पादकता के गुणों से युक्त हो ।

ग़ज़ल की प्रकृति एवं उसका स्वरूप :

ग़ज़ल की प्रकृति एवं उसके स्वरूप को समझने के लिये ग़ज़ल की भावगत एवं शिल्पगत विशेषताओं के विशद अध्ययन की आवश्यकता है । ग़ज़ल न केवल प्रेमाभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है अपितु वह तीव्रानुभूति की सम्प्रेषणीयता में सहायक भी है । शिल्प की दृष्टि से वह न केवल अंग्रेज़ी साहित्य में प्रयुक्त मैड्रिगाल एवं सानेट छन्दों के समीप है, अपितु

हिन्दी गीतिका से भी उसका निकट का संबंध है । यहाँ हम विविध बिन्दुओं के अन्तर्गत ग़ज़ल की प्रकृति एवं उसके स्वरूप की विवेचना करेंगे ।

(क) ग़ज़ल प्रेमाभिव्यक्ति का माध्यम :

प्रेम की अभिव्यक्ति का माध्यम जितना अच्छा ग़ज़ल हो सकती है उतना कोई अन्य विधा नहीं । इसलिए प्रेम का स्वरूप समझने की बहुत आवश्यकता है ।

प्रेम की एक अत्यन्त ही व्यापक शब्द है, जिसका प्रयोग श्रीमद्‌भागवत व नारद भक्तिसूत्र आदि में मिलता है । अनेक केशकारों एवं मनीषियों ने प्रेम को सूक्ष्म एवं उदात्त भावनाओं का वाहक बताया ।

स्वामी रामतीर्थ के अनुसार "सच्चा प्रेम सूर्य की तरह आत्मा के प्रकाश को फैलाता है । प्रेम का अर्थ है वास्तविक सौंदर्य का दर्शन. . . यह सत्य है कि जिसने कभी प्रेम नहीं किया उसे ईश्वर की प्राप्ति हो ही नहीं सकती ।"[37]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "विसिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं ।"[38]

पंडित सद्‌गुरुशरण अवस्थी के शब्दों में "प्रेम ऐहिक सान्निध्य की पार्थिव आकांक्षा है । अन्य प्रवृत्तियों की भाँति वह भी नितान्त भौतिक है ।"[39]

इस प्रकार प्रेम मन की एक कोमल एवं पवित्र भावना है जिसकी अनुभूति से ही आत्मा का उन्मीलन होता है और आनन्द की प्राप्ति होती है । प्रेम ही जीवन का प्राण है । प्रेम के अभाव में संसार की समस्त छटायें सूनी एवं अस्तित्वहीन प्रतीत होती हैं । जिस प्रकार जल के अभाव में हरी-भरी

वसुन्धरा मरुभूमि बन जाती है वैसे ही प्रेम से शून्य हृदय प्रस्तर से भी कठोर हो जाता है । उसमें स्निग्धता अथवा माधुर्य का एक भी उत्स नहीं फूट सकता । प्रेम एक मधुर ऊष्मा के समान है जो हृदय को ऊष्ण एवं आप्लावित रखती है और अवर्णनीय तृप्ति प्रदान करती है । प्रेम के अंतर्गत लेन-देन की भावना नहीं होती है । प्रेम का मन्दिर तो त्याग की नींव पर ही खड़ा हो सकता है । यह स्थान केवल नायक का नायिका के प्रति ही नहीं भक्त का भगवान के प्रति, माता का पुत्र के प्रति, देश-प्रेमी का मातृभूमि के प्रति, मित्र का मित्र के प्रति भी हो सकता है । इस प्रकार प्रेम के अनेक स्वरूप हमारे समक्ष दृष्टिगोचर होते हैं ।

काव्य जगत में रसानुभूति के लिए कवियों एवं आचार्यों ने नायक-नायिका के मध्य उत्पन्न होने वाले प्रेम को ही मूल रूप से कविता का वर्ण्य विषय बनाया है । यों तो मनु्य अनेक वस्तुओं से प्रेम रख सकता है किन्तु प्रेम की यह भावना जितनी स्पष्ट, जितनी पूर्ण और जितनी प्रभावशालिनी परस्पर प्रेमाकृष्ट नायक-नायिका के प्रेम संबंध में प्रकट होती है उतनी अन्यत्र नहीं । जीवन में अनुभूत काम भावनायुक्त यही प्रेम काव्य की मूलभूत प्रेरणा का अविरल निर्झर बन सकता है । प्रेम भावना का चित्रण ही श्रृंगार के अंतर्गत संयोग और वियोग दो पक्ष आते हैं । दोनों का ही अपना-अपना महत्व है । नायक-नायिका के परस्पर नेत्रों का सम्मेलन, वाग्विलास, छेड़छाड़ एवं अन्य कामोद्दीपन से युक्त क्रियायें संयोग श्रृंगार की परिधि में आती हैं तथा प्रेम पात्र से वियुक्त हो जाने पर उसके लिये रोना, आँसू बहाना तथा तिल-तिल कर जीवन को समाप्त कर देना या फिर कयामत तक प्रिय की प्रतीक्षा करना आदि दशायें वियोग श्रृंगार को स्वर प्रदान करती हैं ।

इस प्रकार व्यावहारिक जीवन में संयोग ही आनन्द की पूर्णानुभूति कराता है, किन्तु काव्य में वियोग श्रृंगार का महत्व अधिक माना गया है। वियोग में प्रेमियों को जिन स्थितियों का सामना करना पड़ता है, वे उनके हृदय को स्निग्ध एवं मधुर बनाकर अधिक व्यापक एवं उदात्त बनाती हैं। इसलिए वे ही काव्य अधिक मार्मिक सिद्ध हुए हैं जिनमें प्रभावशाली वियोग वर्णन की प्रमुखता है।

हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त उर्दू-फ़ारसी काव्य में भी प्रेम को वर्ण्य विषय का आवश्यक तत्व माना गया है। ग़ज़लों के लिए तो प्रेम का महत्व और भी अधिक है, क्योंकि ग़ज़लों के माध्यम से आशिक और माशूक का वार्तालाप एवं प्रेम भावनाओं का अभिव्यक्तिकरण आरंभिक काल से ही होता रहा है। कवियों और शायरों ने हुस्न, इश्क, मोहब्बत, तनहाई एवं जुदाई की स्थितियों पर आधारित ग़ज़लगोई के जो नमूने प्रस्तुत किये हैं, वे प्रशंसनीय हैं। मौलाना हाली के पूर्व की ग़ज़लों में आपको प्रेम की नाना दशाओं की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त कुछ न मिलेगा। वास्तव में ग़ज़ल की विधा प्रेमाभिव्यक्ति के लिए ही थी। मिर्ज़ा गालिब अपनी एक ग़ज़ल में फरमाते हैं -

"लो हम मरीज़े-इश्क़ के तीमारदार हैं,
अच्छा अगर न हो तो मसीहा का क्या इलाज ?"[40]

उर्दू ग़ज़ल के बादशाह जिगर मुरादाबादी की ग़ज़लों की ग़ज़लें प्रेमाभिव्यक्ति में कितनी सफल हुई हैं, यह उनकी एक ग़ज़ल के माध्यम से देखिए-

"यादे-जाना भी अजब रूह फ़ज़ा आती है।

साँस लेता हूँ तो जन्नत की हवा आती है ।

मर्गे नाकामे-मोहब्बत मिरी तक्सीर मुआफ़ -

जीस्त बन-बन के मिले हक़ में क़ज़ा आती है ।

नहीं मालूम वो खुद हैं कि मोहब्बत उनकी

पास ही से कोई बेताब सदा आती है ।

मैं तो इस सादगी-ए-हुस्न पे उसके सद्‌के

न ज़फ़ा आती है जिसको न वफ़ा आती है ।

हाय क्या चीज़ है ये तक्मिला-ए-हुस्नो-शबाब

अपनी सूरत से भी अब उनको हया आती है ।।"[41]

उपरोक्त ग़ज़ल में प्रेमाभिव्यक्ति की सामर्थ्य को खोजते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इसके प्रत्येक शेर का एक-एक शब्द प्रेम की अतीव पुलकन एवं मस्ती से संपूरित है । कवि के लिए प्रेमिका की स्मृति इतनी प्राणवर्द्धक है कि उसे साँस द्वारा ली गई वायु भी जन्नत की हवा के समान प्रतीत होती है । असफल प्रेम की मृत्यु भी कवि के लिए नवजीवन का संदेश देती है । कवि के अन्तर से उठने वाली कोई मूक एवं व्याकुल आवाज़ उसे प्रेमिका और उसके प्रेम का बोध करा जाती है । कवि प्रेयसी के उस अबोध सौंदर्य की सरलता पर अपने को न्यौछावर करता है जो जफ़ा और वफ़ा दोनों ही भाव-दशाओं से अनभिज्ञ है । कवि प्रेयसी की सुन्दरता और यौवन की प्रशंसा करते हुए कहता है कि वह अपने सौंदर्य एवं यौवनागम पर स्वयं ही लजा उठती है । इस प्रकार जिगर के संपूर्ण वाङ्मय का अध्ययन करने पर ज्ञान होता है कि उनकी प्रत्येक ग़ज़ल प्रेम के एक नवीन पक्ष का उद्‌घाटन करती है।

उर्दू साहित्य के रोमांसवादी शायर जनाव जोश मलिहाबादी, जिनकी क्रांति की उद्‌भावना भी शत-प्रतिशत रोमांसयुक्त है, की ग़ज़लें भी प्रेम-भावनाओं की अभिव्यक्ति में सहायक हैं । प्रिय के द्वारा प्रदत्त पीड़ा के वे मूक आघात जिन्हें कवि ने अपने हृदय पर सहा है, ठण्डी हवा चलने पर स्मृति के रूप में कसक उठते हैं । कवि के शब्दों में -

"दिल की चोटों ने कभी चैन से रहने न दिया
जब चली सर्द हवा, मैंने तुझे याद किया ।।[42]

सौंदर्य और यौवन लोगों के हृदय में प्रेम-पादप को अंकुरित कर ही देता है। न जाने कितने लोग अपने प्रेम-पात्र की सुन्दरता और यौवन को देख-देखकर हाथ मलते रहते हैं और उनके हृदय प्रेम की मधुर पीड़ा से घायल हो जाते हैं । कवि के शब्दों में –

'बला से कोई हाथ मलता रहे ।
तिरा हुस्न साँचे में ढलता रहे ।।
हर इक दिन चभके मोहब्बत का दाग –
ये सिक्का ज़माने में चलता रहे ।।[43]

आपने साहित्य के द्वारा पाठकों की हृदयगत भावनाओं से तादात्म्य स्थापित करने और अपने अश्रूओं से जन-जन के नेत्रों को आप्लावित करने मुगल सल्तनत के अन्तिम बादशाह बाहादुरशाह जफ़र की साधारण भावभूमि पर कही गई ग़ज़लों में भी प्रेमाभिव्यक्ति के विविध रूपों के दर्शन होते हैं । अपनी प्रेयसी का चुम्बन लेकर भी प्रिय अपना अपराध नहीं स्वीकार करता अपितु इसके लिए व्याकुल हृदय को ही दोषी ठहराया है । कवि की एक ग़ज़ल का शेर देखिये -

'बेखुदी में ले लिया बोसा, खता कीजै मुआफ़

ये दिले-बेताब की सारी खता थी, मैं न था ।'[44]

सच्चा प्रेमी अहर्निश प्रिय की स्मृति में तड़पता रहता है । उसे सम्भवतः मृत्यु के अतिरिक्त कोई शान्ति देने वाला नहीं । इसी भावभूमि पर आधारित जफ़र की एक ग़ज़ल से उद्धृत शब्दचित्र देखिए -

'सुबह रो-रो के शाम होती है ।

शब तड़प कर तमाम होती है ।।'[45]

प्रेम की विरहजन्य पीड़ा का उपचार कवि ने प्रिय के मिलन और चुम्बन में ही तलाश किया है । कवि कहता है -

'बोसा तेरे लब का मर्ज़े ग़म की दवा है ।

क्यों और को देता है कि बीमार तो मैं हूँ ।।'[46]

उपरोक्त पंक्तियाँ 'तुम्हीं ने दर्द दिया है तुम्हीं दवा देना' के भाव को चरितार्थ करती हैं ।

प्रेम एवं राजनीतिक प्रवंचनाओं में कवि को कहीं भी सुख की एक किरण दृष्टिगोचर न हुई । वह न तो किसी के नेत्रों में समा सका और न ही किसी के हृदय में स्थान पा सका । उसका जीवन मुट्ठी-भर धूल के समान बन गया जो किसी के काम न आ सकी । वह उस शाश्वत पतझर वाले वन का वसन्त बन गया जिसका कोई अस्तित्व नहीं होता –

'न किसी की आँख का नूर हूँ, न किसी के दिल का क़रार हूँ ।

जो किसी के काम न आ सके, मैं वो एक मुश्ते गुबार हूँ ।।

मेरा रंग रूप बिगड़ गया, मेरा यार मुझसे बिछुड़ गया –

जो चमन खिजाँ से उजड़ गया, मैं उसी की फस्ले बहार हूँ ।।'[47]

इस प्रकार जफ़र की ग़ज़लों में वियोगजन्य प्रेम की शाश्वत अभिव्यक्ति हुई है ।

उर्दू के प्रसिद्ध कवि जनाब शेख मोहम्मद इब्राहीम जौक़ की ग़ज़लों में भी प्रेम की नवीन अनुभूतियाँ दृष्टिगत होती है । एक उदाहरण प्रस्तुत है –

'आँख मिरी तलवों से वो मल जाएँ तो अच्छा ।

है हसरते पाबोस निकल जाए तो अच्छा ।।'[48]

उक्त शेर में कवि ने प्रेम का एक मौलिक शब्दचित्र प्रस्तुत किया है । प्रिय चाहता है कि उसकी प्रेमिका अपने तलवों से उसकी आँखों को मल जाय ताकि उसके हृदय में प्रेमिका के चरणों का चुम्बन लेने की इच्छा पूर्ण हो सके ।

इतना ही नहीं, प्रेमिका के वियोग में प्रिय के श्वास का तार काँटे के समान खटकता रहता है । वह मृत्यु की असहनीय पीड़ा को प्रिय वियोग से श्रेष्ठ समझता है ।

'फुर्कत में तिरी, तारे नफ़्स सीने में मेरे –

काँटा सा खटकता है, निकल जाय तो अच्छा ।।'[49]

वह प्रिय से मिलन की कामना तो हृदय में सँजोये हैं । प्रिय के मिल जाने पर उससे वार्तालाप में समय का व्यवधान पसन्द नहीं करता –

'वो सुबह को आयें तो करूँ बातों में दोपहर –

और चाहूँ कि दिन थोड़ा सा ढल जाये तो अच्छा ।।'[50]

सुप्रसिद्ध पाकिस्तानी उर्दू शायर ज़नाब फ़ैज अहमद फ़ैज की ग़ज़लें भी प्रेमाभिव्यक्ति करने में सफल हुई हैं । उनकी ग़ज़लें भी विरह की चाशनी में पगी हुई हैं । प्रिय को अपने प्रेम पात्र की स्मृति इतनी मधुर लगती है कि पीड़ा के घाव भर जाने पर भी वह पुन: किसी-न-किसी रूप में उसकी स्मृति सरिता में गोते लगा कर मधुर पीड़ा के आनन्द को अनुभव करने लगता है –

'तुम्हारी याद के जब जख्म भरने लगते हैं ।

किसी बहाने तुम्हें याद करने लगते हैं ।।'[51]

कवि के विचार में पीड़ा की परिभाषा को प्रेम से अपरिचित व्यक्ति भला कैसे अनुभव कर सकता है । प्रेमिका की प्रत्येक चितवन से प्रिय के जीवन का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है । इसे या तो वह जानता है अथवा उसी के समान कोई अन्य मुक्त भोगी । कवि के शब्दों में –

'तुम्हारी हर नज़र से मुन्सलिक है रिस्ता-ए-हस्ती –

मगर ये दर्द की बातें कोई नादान क्या समझे ।।'[52]

प्रेम को जीवन के लिए आवश्यक मानते हुए अपनी एक ग़ज़ल में सुप्रसिद्ध उर्दू शायर स्वर्गीय साहिर लुधियानवी कहते हैं –

'मिलती है जिन्दगी में मुहब्बत कभी-कभी ।

होती है दिलबरों की इनायत कभी-कभी ।।

x x x

तनहा न कटे सकेंगे जवानी के रास्ते,

पेश आयेगी किसी की जरूरत कभी-कभी ।।'[53]

उर्दू ग़ज़ल को हिन्दी कविता का रंग देने वाले सुप्रसिद्ध कवि डॉ. बशीर बद्र की ग़ज़लें भी प्रेम की कोमल कल्पनाओं से ओत-प्रोत हैं । कवि प्रेमिका के दोनों अधरों को शेर के दो मिसरे और प्रेमिका को ग़ज़ल की जान समझ बैठता है--

'वो लब हैं कि दो मिसरे, और दोनों बराबर के,

तारों भरी पलकों की, भरमाई हुई ग़ज़लें ।

x x x

उस जाने-तमज्जुल ने, जब भी कहा किये –

मैं भूल गया अक्सर, याद आई हुई ग़ज़लें ।।'[54]

उर्दू-ग़ज़ल को नया मोड़ देकर हिन्दी ग़ज़ल के रूप में प्रवर्तित करने वाले ग़ज़लकार स्वर्गीय दुष्यन्त कुमार, जो मौलाना हाली तथा शमशेरबहादुर सिंह से प्रभावित थे, ने भी प्रेमाभिव्यक्ति कराने वाली कुछ परम्परागत ग़ज़लें कही हैं ।

इसी प्रकार शुद्ध हिन्दी में ग़ज़ल कहने वाले कवि श्री निरंकार देव सेवक की कुछ परम्परागत ग़ज़लें प्रेमाभिव्यक्ति मं शत-प्रतिशत सफल हुई । उनकी सन् 1939-40 के आसपास लिखी हुई एक ग़ज़ल की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिनमें प्रिय अपनी प्रेमिका से प्रणय याचना करता है । वह चाहता है कि उसकी जीवन-वीणा पर कोई कोमल कण्ठ प्रणय का मधुर राग गा उठे या उसके मानस रूसी मरुस्थल में कोई प्रेम का मधुरस बरसा दे । कवि के शब्दों में –

'तुम मेरी जीवन वीणा पर, संगीत मधुर गाती आओ ।

तुम मेरे मन के मरुथल में, मधुरस कण बरसाती जाओ ।।'[55]

किन्तु कवि प्रणय में चिर तृप्ति की आकांा नहीं करता है । उसे अतृप्ति में जो आनन्द है वह तृप्ति में कहाँ । वह कहता है –

'इच्छा करने में जो सुख है, सब कुछ पाने में प्राप्त कहाँ –

मैं तुमसे माँगूँ, तुम दाने-दाने को तरसाती जाओ ।'[56]

इस प्रकार पूर्ण या आंशिक रूप से प्राय: सभी उर्दू अथवा हिन्दी के ग़ज़ल-कारों ने प्रेम को अपनी ग़ज़लों का वर्ण्य विषय बनाया है । कुछ लोग तो ग़ज़ल को प्रेमकाव्य की एक विधा ही मानते हैं । मौलाना हाली से पूर्व तो पूर्णतया ग़ज़लें ही प्रेमाभिव्यक्ति का माध्यम रहीं । यह बात और है कि समय और परिवेश के परिवर्तन साथ-साथ ग़ज़लों का वर्ण्य विषय भी परिवर्तित हुआ और नयी-नयी ज़मीनों पर नये-नये रदीफ़ा-क़ाफ़ियों के साथ नयी-नयी ग़ज़लें कही जाने लगीं । इन ग़ज़लों में व्यंग्य की मार सामाजिक और राजनीतिक शब्दचित्र तथा हास्य की मुद्रायें तो मिल सकती हैं, किन्तु प्रेम का वह आत्मिक आनन्द कहाँ मिलेगा जो परंपरागत ग़ज़लों में मिलता है। वास्तविकता तो यह है कि सच्चे अर्थों में ग़ज़लें तो वही हैं जिनमें प्रेम की विविध भावदाशाओं की अनुभूति कराने की क्षमता हो और जिनका उद्देश्य प्रेमाभिव्यक्ति में निहित हो ।

(ख) ग़ज़ल : तीव्रानुभूति की सम्प्रेषणीयता में सहायक

रसवादी आचार्यों ने कल्पना और अनुभूति को कविता का आवश्यक तत्व माना है । कल्पना और अनुभूति के सहारे ही वह मानस में उद्‌भूत भावनाओं के शब्दचित्र खींचकर अपनी बात को कलात्मक ढंग के अन्त:करण को सम्प्रेषित करता है । भावपक्ष की दृष्टि से कल्पना और अनुभूति का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान है ।

साधारण रूप से कल्पना एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा कवि के मन में नाना प्रकार के अप्रत्यक्ष चित्र उत्पन्न हुआ करते हैं । संस्कृत में 'कल्पना' शब्द की उत्पत्ति 'कलृप' धातु से हुई है जिसका अर्थ है सृष्टि करना । आंग्लभाषा में इसे 'Imagination' कह सकते हैं ।

अनुभूति से हमारा आशय कवि के मानस में उद्‌भूत उस भावविदि से है जिसे वह अपने कटु अथवा मधुर अनुभवों द्वारा बहुत कुछ खोकर प्राप्त करता है। मनोविज्ञान की शब्दावली में कह सकते हैं कि आवेग उनकी दिश-शक्ति तथा उनका एक दूसरे को प्रभावित करना किसी भी अनुभूति की अनिवार्य एवं मौलिक वस्तुएँ हैं । विद्वानों ने अनुभूति के अनेक भेद किये हैं जिनमें सौन्दर्यानुभूति, कल्पनात्मक अनुभूति, काव्यात्मक अनुभूति एवं रसानुभूति प्रमुख हैं ।

सौन्दर्यानुभूति को परिभाषित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, 'कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि इसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं । अन्तःसत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है ।'[57]

कलात्मक अनुभूति कविता के काव्यात्मक मूल्य का निर्धारण करती है। इस प्रकार अनुभूति एवं कल्पना के मिश्रण से उत्पन्न कविता ही प्रभावोत्पादकता एवं सम्प्रेषणीयता से युक्त होती है ।

काव्यानुभूति श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म रूप से व्यवस्थित होती है तथा इसमें कवि मानस से उठकर पाठक के मानस तक पहुँचने की स्वाभाविक क्षमता होती है ।

पाश्चात्य समीक्षक रिचर्ड्स ने रसानुभूति को अलौकिक अनुभूति माना है।[58]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता में कल्पना एवं अनुभूति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है । वास्तव में कविता विभिन्न अनुभूतियों का एक समूह है जो कल्पना से समन्वित होकर पाठक को वैसी ही तीव्रानुभूति कराती है जैसा कि कवि हृदय अनुभव करता है और यही कविता की सबसे बड़ी विशेषता है ।

कल्पना भावों अथवा अनुभूतियों को पुष्ट करती है, उन्हें आकर्षण प्रदान करती है, उसके लिए सामग्री उपस्थित करती है और साथ ही अभिव्यक्ति में सहायक भी होती है ।[59]

इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए जयशंकर प्रसाद जी ने काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति कहा है ।[60]

अब प्रश्न उठता है कि कवि की अनुभूतियाँ एक साधारण पाठक के गले कैसे उतर सकती है । यह कवि की सामर्थ्य पर निर्भर है कि वह अपनी अनुभूतियों को किसी सीमा तक पाठक के हृदय में सम्प्रेषित कर सकता है । प्रत्येक मनुष्य का मन अलग-अलग होता है । उनकी अनुभूतियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं । परन्तु जब कवि की यही अनुभूतियाँ पाठकों की सामान्य अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर लेती हैं तो सम्प्रेषण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है । रिचर्ड्स के अनुसार सम्प्रेषण तब घटित होता है जब एक मन अपने परिवेश के प्रति इस प्रकार से प्रतिक्रिया व्यक्त करता है कि दूसरा मन उससे प्रभावित हो जाता है और उस दूसरे मन में ऐसी अनुभूति उत्पन्न होती है जो प्रथम मन की अनुभूति के समान और अंशतः उसके कारण उत्पन्न होती है ।

कल्पना एवं अनुभूति के पारिभाषिक एवं शास्त्रीय अध्ययन के पश्चात हमें इस बात पर विचार करना है कि गीत-प्रगीत आदि की भाँति ग़ज़लें किस प्रकार तीव्रानुभूति की सम्प्रेषणीयता में सहायक हैं ।

ग़ज़लों की प्रधान विशेषता उसकी संक्षिप्तता होने के कारण उनमें दोहा छन्द की भाँति थोड़े में बहुत कुछ कहने अथवा गागर में सागर भरने की सामर्थ्य निहित होती है । अतः ग़ज़लों में अनुभूति की सम्प्रेषणीयता का महत्व असंदिग्ध है । वास्तव में यदि ग़ज़ल को कवि की अनुभूतियों का विस्फोट कहें तो यह अतिशयोक्ति न होगी । ग़ज़लों में कवि अपना दुख-दर्द, हर्ष-उल्लास, ग्लानि-क्षोभ, प्रायश्चित, उपालम्भ, देश-काल तथा परिस्थितियों के प्रति आत्म-दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है । ग़ज़ल के एक-एक मिसरे में कवि का अन्तर्जगत प्रतिबिम्बित होता है ।

ग़ज़लें शुद्ध भावात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हैं । उनमें अनुभूति की आवेशमयी तीव्रता के दर्शन होते हैं जो भाव-सम्प्रेषणीयता को खोये बिना ही मूल आवेग की शक्ति के साथ प्रस्तुत की जाती है और प्रबुद्ध पाठक को प्रभावित करती है । इसीलिए तो मिर्जा ग़ालिब की एक-एक पंक्ति पर लोग झूम-झूम उठते हैं । तीरे-नज़र एवं प्रेम की मधुर पीड़ा तथा प्रेम-पात्र की निष्ठुरता से ओत-प्रोत इनकी एक ग़ज़ल के दो मिसरे प्रस्तुत हैं –

'कोई मेरे दिल से पूछे, तेरे तीरे-नीमकश को
ये खलिश कहाँ से होती, जो जिगर के पार होता ।
ये कहाँ की दोस्ती है, कि बने दोस्त हैं नासेह
कोई चारासाज़ होता, कोई ग़म गुसार होता ।।'[61]

इसी प्रकार प्रिय के अधरों को चिनगारी और फूल की संज्ञा देते हुए फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की मौलिक अनुभूति देखिए-

'अगर शरर है तो भडक़े, जो फूल है तो खिले
तरह-तरह की तलब, तेरे रंगे-लब से है ।।'[62]

बहादुरशाह जफ़र ने अपनी एक ग़ज़ल में प्रेम के रोग को अनन्त जीवन एवं स्वास्थ्य से श्रेष्ठ बताते हुए कहा है –

'इश्क का आज़ार सेहत से है बेहतर ऐ तवीब
जो रहे उस शोख के बीमारे ग़म अच्छे रहे ।।'[63]

ग़ज़लों के बादशाह जिगर मुरादाबादी ने अपनी एक ग़ज़ल के माध्यम से प्रेम-काठिन्य की अनुभूति इन शब्दों में कराई है –

'हम इश्क़ के मारों का इतना ही फ़साना है ।
रोने को नहीं कोई, हँसने को ज़माना है ।।

X X X

ये इश्क़ नहीं आसाँ इतना ही समझ लीजे –
इस आग की दरिया है और डूब के जाना है ।।'[64]

प्रेम के इसी प्रसंग में प्रवंचना को स्वर देने वाले कवि विद्यासागर वर्मा की एक अनुभूति द्रष्टव्य है –

'यों मोहब्बत में दगा देते हैं लोग ।
आग पानी में लगा देते हैं लोग ।।'[65]

मोहबाबत में दगा देने और पानी में आग लगा देने की तुलनात्मक अनुभूति सम्भवत: और कहीं न मिलेगी । इतना ही नहीं इसी ग़ज़ल के एक अन्य मिसरे में कवि नायिका के दो नेत्रों को नींद की दो गोलियों की संज्ञा देते हुए एक नितांत मौलिक अनुभूति प्रस्तुत करता है –

'नेत्र है या नींद की दो गोलियाँ –
दृष्टि मिलती है, सुला देते हैं लोग ।।'[66]

प्रेमपरक ग़ज़लों से हटकर यदि हम सामाजिक, व्यंग्यात्मक एवं कटु यतार्थवादी ग़ज़लों का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि कवि की पीड़ा एवं अनुभूतियाँ बहुआयामी सामाजिक चेतना से जुडक़र व्यंग्य, उत्पीड़न एवं आक्रोश की अभिव्यक्ति बन गई है । सुप्रसिद्ध ग़ज़लकार स्व.दुष्यन्त कुमार ने हिन्दुस्तान का मानवीकरण अपनी एक ग़ज़ल में इस प्रकार किया है –

'कल नुमाइश में मिला वह चीथड़े पहने हुए –
मैंने पूछा नाम तो बोला कि हिन्दुस्तान है ।।'[67]

प्रतीकात्मक शैली के माध्यम से कवि ने भारत की विपन्नता का संक्षिप्त किन्तु सटीक मानचित्र खींचा है ।

इसी प्रकार कोरे आदर्श से यथार्थ को श्रेष्ठ मानते हुए कवि नरंकार देव सेवक अनी ग़ज़ल में कहते हैं –

'देवता बन न सुरंलोक की बात कर –
मुझको लगते हैं अच्छे खरे आदमी ।।'[68]

पर ऐसे खरे आदमी नगण्य प्राय ही मिलते हैं, क्योंकि आज मानीय मूल्यों का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है और शैतान को भी आदमी की

आदमियत पर सन्देह होने लगा है । कवि निरंकार देव सेवक के ही शब्दों में –

'मुझको देखा तो शैतान सेवक चिल्ला पड़ा –

आदमी, आदमी, बाप रे आदमी ।।'[69]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग़ज़लें अपने लघु कलेवर में कल्पनाओं एवं अनुभूतियों की विशालता को समाहित किए रहती है । जहाँ तक प्रभावोत्पादकता एवं तीव्रानुभूति कराने की सामर्थ्य का प्रश्न है, ग़ज़लें दोहा, छन्द से पीछे नहीं हैं जिसके सफल प्रयोक्ता बिहारीलाल ने विलासिता में लिप्त होकर कर्तव्य को भूले हुए राजा जयसिंह को एक ही दोहे की मार से सही मार्ग दिखला दिया है ।

आज का युग विज्ञान एवं व्यस्तता का युग है । आज का मानव साहित्य के नाम पर पोथे पढ़ने के लिए समय नहीं निकाल पाता । उसे तो काव्यानन्द के लिए संक्षिप्त किन्तु प्रभावोत्पादक सामग्री चाहिए जो तत्काल तीव्रानुभूति करा सके । चूँकि चौदह पंक्ति की होते हुए भी ग़ज़ल का प्रत्येक मिसरा एक स्वतन्त्र भावानुभूति से युक्त होता है । इसीलिए हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि ग़ज़ल तीव्रानुभूति की सम्प्रेषणीयता में सहायक है और उसके माध्यम से कवि, पाठक या श्रोता के मानव को उन्हीं अनुभूतियों से आन्दोलित करता है जिनसे भाव-विह्वल होकर वह अपनी लेखनी उठाता है ।

* * * *

उर्दू ग़ज़लों का स्वरूप

ग़ज़ल की परिभाषा एवं उद्‌गम के विषय में हम पिछले अध्याय में चर्चा कर चुके हैं । यहाँ पर हमें उर्दू-फ़ारसी ग़ज़ल के स्वरूप एवं शिल्प के सम्बन्ध में विचार करना है ।

उर्दू-फ़ारसी में ग़ज़ल एक सशक्त विधा के रूप में लोकप्रिय हुई है । अत: उसके स्वरूप का अध्ययन करने के लिए भाव एवं भाषा की दृष्टि से उपलब्ध तत्सम्बन्धित साहित्य पर विचार करना होगा ।

भाव की दृष्टि से उर्दू-फ़ारसी ग़ज़लें :

साधारणतया ग़ज़ल प्रेम के विविध स्वरूपों की चर्चा के लिए ही एक सुरक्षित विधा के रूप में मानी गयी है । उर्दू-फ़ारसी के कवियों ने ग़ज़लों के माध्यम से प्रेम की विविध भावनाओं के शब्दचित्र अंकित किये हैं । फ़ारसी-साहित्य में प्रेम के दो स्वरूप माने गये हैं –

1. इश्क़े हक़ीक़ी
2. इश्क़े मजाज़ी

इश्क़े हकीक़ी से तात्पर्य अलौकिक प्रेम से है, जिसमें भक्ति, ईश्वर-प्रेम और संसार की नश्वरता से सम्बन्धित प्रसंग आते हैं । इश्क़ मजाज़ी लौकिक प्रेम को कहते हैं, जिसमें प्रेमी और प्रेमिका के भौतिक प्रेम से सम्बन्धित वार्तालाप या कथोपकथन होते हैं ।

फ़ारसी साहित्य में इश्क़े हक़ीक़ी को अत्यधिक महत्व दिया गया है । फ़ारसी कवियों ने अपनी ग़ज़लों में अलौकिक प्रेमी की सुन्दरता, उससे

मिलने की उत्कंठा एवं उसके रंग में रँग जाने की ललक को स्वर दिया है । इन कवियों की ग़ज़लें साधारण पाठक को लौकिक प्रेम की रसानुभूति कराती हैं किन्तु वास्तव में वे अलौकिक प्रेम की ओर संकेत करती हैं ।

फ़ारसी के सुप्रसिद्ध कवि सादी शीराज़ी अपना दिल एक प्रेमी को दे बैठते हैं । मित्रों ने उनसे पूछा कि 'तूने उसे अपना दिल क्यों दे दिया ?' इसके उत्तर में वे कहते हैं, 'मित्रो । मेरे प्रेमी से पूछ लो कि वह इतना सुन्दर क्यों है ?' उनका शेर प्रस्तुत है –

'दूस्तां मनअ कुनंदम कि चरा दिव बतू दादम ।

बायद अब्बल बतू मुफ़्तन कि चुनी खूब चराई ।।'[70]

कवि प्रेमी के शाश्वत सौन्दर्य पर मुग्ध है और वह प्रेमी अलौकिक पुरुष परमेश्वर है । इसी प्रकार फ़ारसी में ग़ज़ल को प्रतिष्ठित करने वाले कवि रूमी, खुसरो, हाफ़िज, इराकी, मग़रबी, अहमद जाम, और जामी आदि ने ईश्वर प्रेम के रंग में अपने को पूर्णतया रँग लिया है । उनकी ग़ज़लों में आध्यात्मिकता और संसार की नश्वरता के शब्दचित्र बहुलता से पाये जाते हैं। उनके नखशिख वर्णन में वासना की गंध नहीं पायी जाती, अपितु एक ऐसी गंध मिलती है जिससे संसार का कण-कण गंधायित प्रतीत होता है । इस प्रकार फ़ारसी ग़ज़लों का भावपक्ष इश्क़े हक़ीक़ी या अलौकिक प्रेम से सम्पन्न है ।

इसके विपरीत उर्दू ग़ज़ल-साहित्य में इश्क़े मजाज़ी या लौकिक प्रेम के शब्द-चित्र बहुलता से उपलब्ध होते हैं । चूँकि उर्दू ग़ज़ल को विलासिता-प्रिय मुसलमान शासकों का संरक्षण प्राप्त कर रहा है, अतः इसका लौकिक प्रेम ही रंगीनी से परिपूर्ण होना स्वाभाविक है ।

उर्दू ग़ज़लों में प्रेम के विविध स्वरूपों यथा मिलन की अभिलाषा, प्रियतम का अत्याचार, विरह्-वेतना, एक प्रिय को लेकर दो प्रतिद्वन्द्वियों में पारस्परिक ईर्ष्या, प्रिय का नखशिख वर्णन, प्रतिज्ञा भंग या बेवफ़ाई से लेकर शराब, साक़ी, प्याला, सुराही आदि से युक्त भावनाओं की इंद्रधनुषी झलक मिलती है ।

प्रियतम के नखशिख वर्णन के अन्तर्गत उसके आक्रमणकारी नेत्रों, बिखरे हुए बालों, रस भरे अधरों, चन्द्रमा से सुन्दर मुखमंडल, दिल को लेने वाली मुस्कराहटों आदि का वर्णन अत्यन्त ही उक्ति-वैचित्र्य के साथ किया गया है । दक्षिण के सुप्रसिद्ध उर्दू कवि हज़रत वली ने प्रिय के नेत्रों और होठों का कितना सुन्दर चित्रण अपनी ग़ज़ल के एक शेर में किया है –

'तुझ लब की सिफ़्त लाले बदख्शां सूँ कहूँगा ।
जादू है तेरे नैन ग़ज़ाला सूँ कहूँगा ।।'[71]

इतनाही नहीं, प्रिय की पलकों ने उन्हें घायल भी कर डाला है । वे कहते हैं –

'ज़ख्मी किया है मुझे तेरे पलकों की अनी ने,
यह ज़ख़्म तेरा ख़ंजरे-भालाँ सूँ कहूँगा ।।'[72]

मिर्ज़ा सौदा को प्रिय की निगाह के प्रभाव से पानी में भी शराब का नशा मालूम पड़ता है । वे कहते हैं –

'टूटे तेरी निगह से अगर दिल हबाब का,
पानी भी फिर पियें तो मज़ा हो शराब का ।।'[73]

शराब के प्याले को देखकर उन्हें प्रियतम की नशीली आँखों का स्मरण हो जाता है और बस वे बिना पिये ही नशे में अपना होशो-हवास खो बैठते हैं –

'कै़फ़ीयते-चश्म उसकी मुझे याद है 'सौदा',

साग़र को मिरे हाथ से लेना कि चला मैं ।।'[74]

प्रियतम के नेत्रों और उसकी दृष्टियों के वर्णन से उर्दू ग़ज़ल साहित्य भरा पड़ा है, जिसकी विस्तार से चर्चा न करके अब हम उसके गेसुओं पर आते हैं । वह अपने बालों को सँवार रहा है, जिसे देखकर मीर हसन फरमाते हैं –

'वो जब तक कि जुल्फ़ें सँवारा किया ।

खड़ा उस पे मैं जान वारा किया ।।

अमी दिल को लेकर गया मेरे आह –

वो चलता रहा मैं पुकारा किया ।।'[75]

जनाब जोश मलिहाबादी इससे भी दो पग आगे हैं । उनका प्रियतम अपने केशों को सँवारते समय स्वयं भी शरमाकर अपनी आँखें झुका लेता है। वह स्वयं ही अपने केशों पर मुग्ध हो जाता है –

'ग़ज़ब है ये अदा उनकी दर्मे-आराइशे-गेसू –

झुकी जाती है आँखें खुद-ब-खुद शर्मायें जाते हैं ।।'[76]

महकते हुए केशों के साथ-साथ चाँद-से सुन्दर मुखमंडल वाले प्रियतम पर रीझकर नयी पीढ़ी के सशक्त उर्दू कवि राज इलाहाबादी उसका पता पूछ बैठते हैं –

'ये हसीं चाँद सा चेहरा ये महकते गेसू
तुम कहाँ के हो ज़रा ये तो बताते जाओ ।।'[77]

प्रियतम के चन्द्रमुख पर आने वाली शोख मुस्कान का प्रभाव इतना सर्व-व्यापी है कि बगीचों की समस्त कलियाँ खिलखिला उठती हैं । बहादुरशाह ज़फ़र के शब्दों में –

'गुंचे का मुँह है क्या कि तबस्सुम करेगा फिर –
गुलशन में गर वो शोख-गुल अंदाम हँस पड़ा ।।'[78]

प्रेम में विरह वेदना और निराशा को स्वर देने वाले उर्दू कवियों में जिगर मुरादाबादी का विशेष स्थान है । उनकी ग़ज़लों में प्रियतम की निष्ठुरता, विरह की व्याकुलता एवं पीड़ा की अभिव्यक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है । इन्हीं भावों से ओत-प्रोत उनकी एक ग़ज़ल देखिये -

'क्या बतायें इश्क़ जालिम क्या क़यामत ढाए है ।
ये समझ लो जैसे दिल सीने से निकला जाए है ।।
जब नहीं तुम तो तसव्वुर भी तुम्हारा क्या ज़रूर –
उससे भी कह दो किये तकलीफ़ क्यों फ़रमाए है ।।
हाल ओ आलम न पूछो इज़्तिरावे-इश्क़ का
यक-ब-यक जिस वक़्त कुछ होश सा आ जाए है ।।
किस तरफ़ जाऊँ किधर देखूँ किसे आवाज़ दूँ,
ए हुजूमे-नामुरादी ! जी बहुत घबराए है ।।'[79]

प्रेम के प्रसंगों में पत्र-व्यवहार का अपना विशेष स्थान है । प्रेमी प्रिय की अनुपस्थिति में अपनी विभिन्न भावदशाओं का चित्रांकन पत्रों के माध्यम

से करता है किन्तु यदि प्रिय निष्ठुर हो तो पत्र लिखना भी सार्थक नहीं होता। बहादुरशाह ज़फ़र के शब्दों में –

'लिख के भेजें उनको हम क्या खाक खत ।
बिन पढ़े कर डालते हैं चाक खत ।।'[80]

कभी-कभी पीड़ा की छटपटाहट आँसू बनकर आँखों से बह निकलती है और पत्र लिखने से पहले ही कागज़ गीला हो जाता है । उन्हीं के शब्दों में

'तर न कर अश्कों से काग़ज़ तर-बतर,
लिखने दे ऐ दीदा-ए-नमनाक खत ।।
तूने क्या लिक्खा था जो रोने लगा,
पढ़ के तेरा आशिक़े-ग़मनाक ख़त ।।'[81]

जब बात आँसुओं तक आ पहुँचती है तब सौदा के कुछ आँसुओं का अति-गर्वोक्तिपूर्ण वैचित्र्य देखिये -

'समुन्दर कर दिया नाम उसका नाहक सबने कह-कहकर,
हुए थे ज़मा कुछ आँसू मेरी आँखों से बह-बह कर ।।'[82]

प्रेम के अतिरिक्त साक़ी और शराब का वर्णन भी उर्दू ग़ज़ल साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है । विस्तार में न जाकर, जौक़ की ग़ज़ल के दो शेर प्रस्तुत करते हैं –

'पी भी जा ज़ौक़ न कर पेशो-पसे-जामे-शराब ।
लब पे तौबा, तिरे दिल में हवसे-जामे-शराब ।।
ज़ौक़ जल्दी मए-गुलरंग से भर साग़रे-मुल,

लबे-नाजुक को है उसके बहसे-जामे-शराब ।।'[83]

वास्तव में शराब वह निन्दित अमृत है जिसकी लोग बुराई तो करते हैं किन्तु हृदय में उसे पीने की अभिलाषा भी रखते हैं ।

इस प्रकार उर्दू-फ़ारसी ग़ज़ल का भाव-पक्ष इश्क़े हक़ीक़ी और इश्क़े मजाजी के रंगीन दौर से गुज़र रहा था । विशेषकर उर्दू-ग़ज़लकार लौकिक प्रेम की उन भावदशाओं का इतिवृत्तात्मक चित्रण करने में लगे थे जो वासना की गन्ध से गन्धायित हो चली थी । दूसरे शब्दों में लोग एक ही विषय पर ग़ज़लें लिख रहे थे - जैसे बहुत से विद्यार्थी गाय पर निबन्ध लिख रहे हों । उनमें कोई नयापन शेष नहीं रह गया था और ग़ज़ल अपने परम्परागत रूप में संकीर्णता की परिधि में बँध चुकी थी ।

तभी उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली ने ग़ज़ल के इतिवृत्तात्मक स्वरूप के विरुद्ध आवाज़ उठाई । उनका विरोध लखनवी शैली की उस निष्प्राण कविता से था जिसमें चेतना का स्तर निम्न था और स्वाभाविकता का अभाव, जिसमें भौंड़ी कल्पना और शाब्दिक खिलवाड़ के साथ ही निम्न कोटि की वासना का भी पुट रहता है ।[84]

अब युग बदल चुका था । मुस्लिम शासकों की रंगे-महफ़िल उजड़ चुकी थी । अतः अब ्रेम की वह मस्ती और रंगीनी आशिक़-माशूक़ की संकीर्ण परिधि में बँधी न रह सकी । मौलाना हाली ने अपने सुझावों से ग़ज़ल को एक नयी दिशा प्रदान की । उन्होंने प्रेम के भाव को उसकी संकीर्णता से बाहर निकालकर भूख, निर्धनता एवं कटु यथार्थ से पीड़ित मानव तक पहुँचाया । उन्होंने आशिक़-माशूक़ के प्रेम को देश-प्रेम, मानव-प्रेम और आध्यत्मिकता का जामा पहनाया । इस प्रकार ग़ज़ल के भावों में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ एवं ग़ज़ल का भाव-पक्ष यथार्थवाद एवं सामाजिक

चेतना से सम्बद्ध हो गया । इस युग के कवियों में शाद अज़ीमाबादी, आसी ग़ाज़ीपुरी, हसरत मोहानी, फ़ानी बदायूँनी, असग़र गोंडवी, डॉ. इक़बाल, साहिर लुधियानवी आदि प्रमुख हैं ।

डॉ. इक़बाल ने ग़ज़ल के जीवन के विविध पहलुओं से जोड़ा है । वे प्रेम के महत्व को स्वीकारते हैं किन्तु उन्हें वासनात्मक प्रेम से घृणा है । वे उस परमेश्वर के पुजारी हैं जो दिल में बसा हुआ है । वे कहते हैं –

'खुदी का नशेमन तेरे दिल में है
फलक जिस तरह आँख के तिल में है ।।'[85]

इसी प्रकार सामाजिक चेतना एवं नवजागरण के कवि साहिर लुधियानवी भौतिक प्रेम से जीवन की अन्य अवश्यकताओं को श्रेष्ठ मानते हैं। वे प्रेम के गायक को चेतावनी देते हुए अपनी ग़ज़ल में कहते हैं –

'अभी न छेड़ मोहब्ब के गीत ए मुतरिब,
अभी हयात का माहौल खुशगवार नहीं ।।'[86]

वे संसार में व्याप्त रूढ़िग़त परम्पराओं, प्रथाओं, संकीर्ण विचारों एवं बुराइयों को दूर करके नयी रोशनी फैलाना चाहते हैं । वे अन्धानुकरण के पक्षधर नहीं हैं । वे जीवन को अपने दृष्टिकोण से जीना चाहते हैं । उन्हीं के शब्दों में –

'भडक़ा रहे हैं आग लबे-नग़्मागर से हम ।
खामोश क्या रहेंगे ज़माने के डर से हम ।।
कुछ और बढ़ गये जो अँधेरे तो क्या हुआ,
मायूस तो नहीं है तलू-ए-सहर से हम ।।

ले दे के अपने पास फ़क़त इक नज़र तो है,

क्यों देखें जिन्दगी को किसी की नज़र से हम ।।

माना कि इस ज़मीं को न गुज़ार कर सके

कुछ ख़ार कम तो कर गये, गुज़रे जिधर से हम ।।'[87]

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उर्दू-फ़ारसी ग़ज़ल काभाव-पक्ष इश्क़े हक़ीक़ी और इश्क़े मजामी से सम्पन्न रहा है और आज की उर्दू ग़ज़ल जीवन के यथार्थवादी दृष्टिकोण एवं सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति बन गई है। आम आदमी के जीवन के विविध चित्रों एवं उसके द्वारा भोगी हुई पीड़ाओं का शब्दांकन आज की उर्दू ग़ज़ल में प्रचुरता से हुआ है ।

भाषा की दृष्टि से उर्दू-फ़ारसी ग़ज़लें :

भाषा को भावों की अनुगामिनी कहा गया है । अत: किसी भी विधा के स्वरूप को समझने के लिए प्रयुक्त की गई भाषा का अध्ययन करना आवश्यक है। ग़ज़ल का समारम्भ ईरान की भूमि पर हुआ । ईरान में फ़ारस नामक एक प्रान्त है । अत: फ़ारस के नाम पर इस देश को फ़ारस और यहाँ की भाषा को फ़ारसी कहा जाने लगा । कालान्तर में ईरान पर अरब शासकों का अधिकार हो जाने से फ़ारसी पर अरबी भाषा का भी प्रभाव पड़ा और फ़ारसी में अरबी शब्दों का सम्मिश्रण हो गया । फ़ारसी भाषा की अपनी अलग लिपि भी है । फ़ारसी साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि रौदकी से लेकर सादी शीराज़ी तथा परवर्ती कवियों ने फ़ारसी भाषा में ग़ज़लें लिखी हैं । इस समय लिखी गयी ग़ज़लों की भाषा समास-गुम्फित एवं शब्द-विन्यास जटिल है । भारी-भरकम एवं क्लिष्ट शब्दों

के प्रयोग से भाषा सर्वसाधारण के लिए नहीं रह गई । प्रसिद्ध फ़ारसी कवि वाहिदी की ग़ज़ल से एक उद्धरण प्रस्तुत है –

'ख़लके निशान-ए-दोस्त-तलब भी कुनन्द बाज़ ।
अज़ दोस्त ग़ाफ़िल अन्द बचन्दी निशाँ कि हस्त ।।'[88]

अमीर खुसरो की ग़ज़लों में भी यही भाषा प्रयुक्त हुई है –

'हर शबम जाँ बर लब आयद नासए ज़ार आबरद ।
ता कुजा भी बाद-बूए जां जफ़ाकार आबुरद ।।'[89]

यह वह समय था जबकि फ़ारसी भाषा में ग़ज़लें लिखी जा रही थीं । यह भाषा अपने आप में क्लिष्ट एवं जटिल है । हमारे यहाँ इस भाषा का प्रचार-प्रसार फ़ारसी मुसलमान विजेताओं के आगमन से हुआ । वे अपने साथ ईरानी संस्कृति और सभ्यता के अतिरिक्त फ़ारसी भाषा भी भारत भूमि पर लाये । सर्वप्रथम दक्षिण भारत के कवियों पर फ़ारसी का प्रभाव पड़ा । वहाँ के आरम्भिक कवियों में वली सबसे प्राचीन माने जाते हैं । उनकी ग़ज़ल के एक शेर की भाषा देखिए -

'तुझ लब की सिफ़त लाले बदख़्शां सूँ कहूँगा ।
जादू हैं तेरे नैन ग़ज़ालाँ सूँ कहूँगा ।।[90]

उर्दू-फ़ारसी मिश्रित इस ग़ज़ल की भाषा पूर्ववर्ती कवियों की अपो अधिक प्रवाहपूर्ण है । इसमें 'नैन' जैसे हिन्दी शब्दों का प्रयोग हुआ है, इसी प्रकार अमीर खुसरो की कुछ ग़ज़लों में एक पंक्ति फ़ारसी की तथा दूसरी पंक्ति हिन्दी की मिलती है । उदाहरण के लिए उनकी एक प्रसिद्ध ग़ज़ल की दो पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं –

'शबाने हिजराँ दराज़ चूँ जुल्फ़ों रोज़े बसलत चु उम्र कोताह
सखी पिया को जो मैंन देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रातियाँ ।'[91]

दिल्ली साहित्य केन्द्र के कवियों ने उर्दू फ़ारसी मिश्रित भाषा में ग़ज़लें लिखी हैं । इन लोगों ने पूर्ववर्ती कवियों की क्लिष्ट भाषा के स्थान पर अपेक्षाकृत सरल, प्रवाहमय एवं प्रांजल भाषा का प्रयोग किया । इसमें हिन्दी और फ़ारसी मुहावरों का भी प्रयोग मिलता है । खान आरज़ू की ग़ज़लों की भाषा देखिए –

'आता है हर सहर उठ तेरी बराबरी को ।
क्या दिन लगे हैं देखो खुर्शीदे ख़ाबरी को ।।
उस तुन्द-खू सनम से जब से लगा हूँ मिलने,
हर कोई मानता है मेरी दिलवावरी को ।।'[92]

इस-समय की ग़ज़लें भाषा की दृष्टि से पहले की अपेक्षा अधिक ओजपूर्ण हैं । फ़ारसी वाक्य-विन्यास और व्याकरण सम्बन्धी नियम और कठोरता से बरते गये, फिर भी भाषा में हिन्दी शब्दों का प्रचलन काफ़ी बढ़ा।

दिल्ली की तबाही के पश्चात शुजाउद्दौला एवं आशिफ़ुद्दौला के समय में यहाँ के बड़े-बड़े कवि अवध को चले गये, किन्तु दिल्ली की साहित्यक धारा की उर्वरा शक्ति क्षीण नहीं हुई । इस युग के कवियों में ग़ालिब, ज़ौक़, मोमिन और दिल्ली के अन्तिम बादशाह ज़फ़र का नाम उल्लेखनीय है । मिर्ज़ा ग़ालिब ने फ़ारसी भाषा में अच्छी ग़ज़लें कही हैं । इनकी ग़ज़लों में जटिल भावों के साथ-साथ क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग भी मिलता है । उनकी एक ग़ज़ल की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

'नक़्शा फ़ारियादी है किस की शोखी-ए-तहरीर का ।

काग़ज़ी है पैरहन हर पैकरे तस्वीर का ।।

बस कि हूँ ग़ालिब असीरी में भी आतिश-ज़ेर-पा-

मूए-आतिश-दीदा है हल्का मेरी ज़ंजीर का ।।'[93]

ज़ौक़ की ग़ज़ल में साधारण रूप से ज़बान का चटखारा समकालीन कवियों की अपेक्षा अधिक है । किन्तु वे भी जहाँ विचार में नवीनता लाने का प्रयत्न करते हैं, सफाई से दूर जा पड़ते हैं । एक उदाहरण देखिये -

'अब तो घबरा के यह कहते हैं कि मर जायेंगे ।

मरके भी चैन न पाया तो किधर जायेंगे ।।

जौक़ जो मदरसे के बिगड़े हुए हैं मुल्ला,

उनको मैखाने में ले आओ सँवर जायेंगे ।।[94]

जफ़र की ग़ज़लों की भाषा सपाट और दैनिक बोलचाल की है । दाग़ की ग़ज़लों में सपाट, दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली मुहावरेदार तथा प्रभावोत्पादक भाषा के दर्शन होते हैं ।

लखनऊ साहित्य केन्द्र पर भी उर्दू-फ़ारसी ग़ज़ल का विकास हुआ । इस युग के कवियों में मुसहफ़ी, इंशा, जुरअत आदि कवि आते हैं । मुसहफ़ी ने फ़ारसी के चार तथा उर्दू के आठ दीवान लिखे हैं । इनकी भाषा में मीर और सौदा जैसा प्रवाह है । उनकी एक ग़ज़ल की चार पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं –

'निगाहे लुत्फ़ के करते ही रंगे अंजुमन बिगड़ा ।

मुहब्बत में तेरी हमसे हर इक अहले वतन बिगड़ा ।

नहीं तक़सीर कुछ दर्ज़ी की इसमें मुसहफ़ी हरगिज़

हमारी नादुरुस्ती से बदन का पैरहन बिगड़ा ।।'[95]

इसी प्रकार इंशा की ग़ज़लों में भी भाषा का एक नया रंग है । उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ देखिये -

'यह जो महन्त बैठे हैं राधा के कुण्ड पर ।
अवतार बन के गिरते हैं परियो ंके झुण्ड पर ।।
शिव के गले से पार्वती जी लिपट गयीं –
क्या ही बहार आज है ब्रह्मा के रुण्ड पर ।।[96]

जुरअत की ग़ज़लों में भी भाषा का प्रवाह और शब्दों का चमन प्रशंसनीय है । इस प्रकार इन कवियों की ग़ज़लों में सफाई, सादगी और दैनिक जीवन की भाषा का प्रयोग मिलता है ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली ने परम्परागत चली आ रही ग़ज़ल के वर्ण्य विषय एवं भाषा में आमूल परिवर्तन लाने के लिए सुधारवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया । उनका विरोध लखनवी शैली की उस निष्प्राण कविता से था जिसमें चेतना का स्तर निम्न था और स्वाभाविकता का अभाव, जिसमें भोंड़ी कल्पना और शाब्दिक खिलवाड़ के साथ ही निम्न कोटि की वासना का भी पुट रहता था । अब तक चूँकि ग़ज़ल एक लोकप्रिय विधा बन चुकी थी, अत: वे ग़ज़लों में शब्द-चमत्कार के स्थान पर जनसाधारण की बोलचाल की भाषा प्रयोग करने के पक्ष में थे । उर्दू-फ़ारसी शब्दों के स्थान पर उन्होंने देशी शब्दों के प्रयोग पर बल दिया । वे भाषा में नयापन चाहते थे । उन्हीं के शब्दों में 'ग़ज़ल में आवश्यक है कि अन्य काव्य-रूपों की अपेक्षा सादगी और सरलता का अधिक ध्यान रखा जाय ।'[97]

मौलाना हाली ने ग़ज़ल के क्षेत्र में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन किये, उनसे प्रभावित होकर अनेक कवि सम्मुख आये जिनमें अकबर इलाहाबादी,

चकबस्त, इक़बाल, नज़्म तबातबाई, सफ़ी लखनवी, नज़र लखनवी, मिर्जा साक़िब, आरजू लखनवी, शाद अज़ीमाबादी, आसी ग़ाज़ीपुरी, हसरत मोहानी, फ़ानी बदायूँनी, असगर गोंडवी, जिगर मुरादाबादी आदि प्रमुख हैं ।

व्यंग्य और विनोद के कवि होने के कारण अकबर इलाहाबादी ने अपनी ग़ज़लों में दैनिक बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है । उदाहरणार्थ उनकी दो पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं –

'डारविन साहब हक़ीक़त से निहायत दूर थे ।
मैं न मानूँगा कि मूरिस आप के लंगूर थे ।।'[98]

मौलाना नज़्म तबातबाई ने भाषा की दृष्टि से अपनी उर्दू ग़ज़लों में वही नरमी और मिठास भर दी है जो फ़ारसी ग़ज़लों में मिलती है । उनकी ग़ज़लों में नवीनता और अर्थ-गाम्भीर्य के दर्शन होते हैं तथा उन में फूहड़पन और ग्रामत्व दोष कहीं भी नहीं आने पाया है । उन्होंने अपनी ग़ज़लों में मुहावरों और दैनिक बोलचाल की भाषा का प्रयोग आकर्षक ढंग से किया है।

सफ़ी लखनवी की ग़ज़लों में भारी-भरकम फ़ारसी शब्द-विन्यास का सर्वथा अभाव है । उनकी भाषा चुस्त, और प्रवाहपूर्ण, मुहावरेदार तथा दैनिक बोलचाल की है । उनकी ग़ज़ल के दो शेर भाषा की दृष्टि से देखिए-

'ग़ज़ल उसने छेड़ी मुझे साज़ देना ।
ज़रा उम्रे-रफ्ता को आवाज़ देना ।।
न ख़ामोश रहना मेरे हमसफ़ीरो -
जब आवाज दूँ तुम भी आवाज देना ।।'[99]

नज़र लखनवी की ग़ज़लों में अरबी-फ़ारसी के मधुर शब्दों का प्रयोग मिलता है । उनकी भाषा प्रवाह, माधुर्य और लोच परिपूर्ण है । उनकी ग़ज़ल का एक शेर प्रस्तुत है –

'तअल्लुके-गुलो-शबनम है राज़े उल्फ़त भी,
उन्हें हँसाये जहाँ तक हमें रुलाये बहारा ।'[100]

मिर्ज़ा साक़िब ने अपने समकालीनों की अपो कुछ क्लिष्ट भाषा का प्रयोग किया है किन्तु इस क्लिष्टता के बावजूद भी उनकी भाषा कभी लड़खड़ाती नहीं है । इसके विपरीत आरजू लखनवी ने अपनी ग़ज़लों में ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जिसमें एक भी शब्द अरबी या फ़ारसी का नहीं है । ग़ज़लों के माध्यम से उन्होंने एक जनभाषा विकसित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है । उन्होंने कुछ ग़ज़लें शुद्ध उर्दू में और कुछ शुद्ध हिन्दी में कही हैं । दोनों का एक-एक शेर प्रस्तुत है –

'बुरा हो इस मोहब्बत का हुए बर्बाद घर लाखों,
वहीं से आग लग उट्ठी ये चिनगारी जहाँ रख दी ।'[101]

X X X

'किसने भीगे हुए बालों से ये झटका पानी,
झूमकर आई घटा टूट के बरसा पानी ।'[102]

शाद अज़ीमाबादी की ग़ज़लों में देशज, मुहावरेदार और सरल भाषा के दर्शन होते हैं । डॉ.फ़िराक़ गोरखपुरी ने उन्हें बीसवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की ग़ज़लगोई को जोड़ने वाली कड़ी माना है ।

आसी गाज़ीपुरी ने अपनी ग़ज़लों में लखनवी भाषा का प्रयोग किया है। फ़ानी बदायूँनी की ग़ज़लों की भाषा सरल, कोमल और प्रवाहपूर्ण है ।

अनुभूति की तीव्रता के कारण यत्र-तत्र उनकी ग़ज़लों में फ़ारसी शब्द-विन्यास भी प्रयुक्त हुआ है ।

भाषा की दृष्टि से जिगर मुरादाबादी की ग़ज़लें काफी सरल हैं । भाषा के कारण ही उनकी ग़ज़लों में गेयता और प्रवाह आश्चर्यजनक रूप से प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए उनकी ग़ज़ल के दो शेर प्रस्तुत हैं -

'नज़र मिलाके मेरे पास आके लूट लिया ।
नज़र हटी थी कि फिर मुस्कुरा के लूट लिया ।
बड़े वो आये दिलो-जहाँ के लूटना वाले -
नज़र से छेड़ दिया गुदगुदा के लूट लिया ।'[103]

इसी प्रकार परवर्ती उर्दू कवियों ने भी अपनी ग़ज़लों में सरल, मुहावरेदार एवं बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है । आज उर्दू ग़ज़लों की स्थिति यह है कि जब के उर्दू लिपि में प्रकाशित होती है । तो उर्दू पाठक आनन्द लेते हैं और जब देवनागरी लिपि में प्रकाशित होती हैं तो उर्दू न जानने वाले हिन्दी पाठक भी उतना ही आनन्द प्राप्त करते हैं ।

उर्दू-फ़ारसी ग़ज़लों की भाषा के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात उसमें लिंग-विपर्यय का पाया जाना है । उर्दू-फ़ारसी में प्राय: प्रेमिका के लिए पुल्लिंग शब्दों का प्रयोग किया जाता है । उदाहरणार्थ ग़ालिब की ग़ज़ल के कुछ शेर प्रस्तुत है –

'आये हो कल आज ही कहते हो कि जाऊँ,
माना कि हमेशा नहीं अच्छा कोई दिन और ।
X X X
बोसा नहीं, न दीजिए, दुश्नाम ही सही,
आखिर ज़बां तो रखते हो तुम गर दहाँ नहीं ।'[104]

पहले शेर में प्रेमिका के लिए 'आये हो' तथा 'कहते हो' पुल्लिंग शब्द का प्रयोग किया है जिसके स्थान पर क्रमश: 'आयी हो' तथा 'कहती हो' जैसे स्त्रीलिंग शब्दों का प्रयोग होना चाहिए था । दूसरे शेर में 'रखते हो' के स्थान पर 'रखती हो' का प्रयोग अधिक उपयुक्त होता ।

ज़ौक़ की ग़ज़लों में भी इसी प्रकार प्रेमिका के लिए स्त्री लिंग के स्थान पर पुल्लिंग शब्द प्रयुक्त हुए हैं । जैसे -

'क्या आए तुम जो आए घड़ी दो घड़ी के बाद ।
सीने में साँस होगी अड़ी दो घड़ी के बाद ।।'[105]

यह प्रवृत्ति परवर्तियों की अपेक्षा प्राचीन कवियों में अधिक पायी गई है। आज की उर्दू ग़ज़ल प्राय: इस दोष से मुक्त है ।

इस प्रकार भाषा की दृष्टि से उर्दू-फ़ारसी ग़ज़लों का अध्ययन करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपनी प्रारंभिक अवस्था में ग़ज़लें अरबी-फ़ारसी भाषा में कही गई हैं । फ़ारसी कवियों में अमीर खुसरो अवश्य ऐसे कवि हो गये हैं जिन्होंने फ़ारसी ग़ज़लों के अतिरिक्त ऐसी ग़ज़लें भी कही हैं जिनमें हिन्दी का सम्मिश्रण पाया जाता है । दूसरे दौर में मुसलमानों का प्रभुत्व स्थापित हो जाने से हिन्दी शब्दों का बहिष्कार करके ग़ज़लों में उर्दू-फ़ारसी भाषा का प्रयोग होने लगा और ग़ज़ल जनसाधारण की समझ से दूर होती चली गई । तीसरे दौर में मौलाना हाली के सद्‌प्रयत्नों से पुन: ग़ज़लों में उर्दू-फ़ारसी की क्लिष्ट शब्दावली के स्थान पर हिन्दुस्तानी या दैनिक बोलचाल की भाषा का प्रयोग होने लगा । आज की उर्दू ग़ज़ल हिन्दी के काफी समीप आ गई है । इसकी लोकप्रियता का यह भी एक प्रमुख कारण है।

उर्दू-फ़ारसी ग़जल का शिल्प-विधान :

प्रत्येक भाषा का काव्य अनेक रूपों में वर्गीकृत होने के साथ-साथ अपने विशेष शिल्प-सौष्ठव से सम्पन्न होता है । वैसे तो यदि अर्थ स्पष्ट करने की क्षमता हो तो कविता का आंशिक रसास्वादन हो ही सकता है किन्तु सम्पूर्ण रूप से रसास्वादन के लिए काव्यशास्त्र सम्बन्धी आधारभूत तत्वों का अध्ययन अति आवश्यक है । ग़ज़ल उर्दू-फ़ारसी का एक प्रमुख काव्य रूप है जिसका अपना एक अलग शिल्प-विधान है । उर्दू-फ़ारसी ग़ज़ल कुछ निश्चित बह्रों अथवा लयखण्डों पर आधारित होती है । इसके अतिरिक्त क़ाफ़िया, रदीफ़, मिसरा, शेर आदि ग़ज़ल के प्रमुख अंग हैं ।

अतः उर्दू-फ़ारसी ग़ज़ल के शिल्प-विधान के अनतर्गत हम उर्दू-फ़ारसी में प्रयुक्त छन्दों, लयखण्डों तथा ग़ज़ल के अन्य अंगों का अध्ययन निम्नवत करेंगे -

उर्दू-फ़ारसी छन्दःशास्त्र का आधार - बह्रें या लयखण्ड :

उर्दू-फ़ारसी में हिन्दी के विपरीत मात्रिक छन्दों का सर्वथा अभाव है । उनके स्थान पर निश्चित वज़न वाले लयखण्ड प्रचलित हैं जिन्हें बह्र भी कहते हैं। ख़लील-बिन-अहमद बसरी ने इस प्रकार के पन्द्रह लयखण्ड निर्धारित किये हैं जिनके विनिवर्तन से विभिन्न प्रकार की बह्रों का जन्म होता है । उर्दू-फ़ारसी कविता में उन्नीस प्रमुख बह्रें मानी गई हैं जिन पर सम्पूर्ण छन्दःशास्त्र आधारित है। उर्दू-फ़ारसी छन्दःशास्त्र में अलग-अलग वज़न के चार-पाँच शब्द प्रचलित हैं जिनको हेर-फेर कर रखने से नयी बह्रें बन जाती हैं । उर्दू-फ़ारसी ग़ज़लें भी इन्हीं बह्रों में आबद्ध की गई हैं । इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

1. हज़ज -इसका शाब्दिक अर्थ अच्छी 'आवाज़' है । प्रारम्भ में यह लयखण्ड अरबी भाषा में कविताओं के लिए प्रचलित था जिसे कालान्तर में उर्दू फ़ारसी कवियों ने भी अपनाया । इसमें 'मुफ़ाईलुन' शब्द की चार बार आवृत्ति होती है । उदाहरणार्थ - 'खुदा जाने वो क्या पूछें हमारे मुँह से क्या निकले '?

2. रजज़ - इस लयखण्ड में 'मुतफ़ाईलुन शब्द की चार बार आवृत्ति होती है जिसे गुनगुनाते हुए उसी वज़न पर कविता लिखी जा सकती है । उदाहरणार्थ - 'ये ज़िक्र और मुँह आपका साहिब खुदा का नाम लो' ?

3. रमल - इस लयखण्ड में आबद्ध कविताएँ जल्दी-जल्दी पढ़ी जाती हैं । इसमें 'फ़ाईलातुन' शब्द की तीन आवृत्तियों के पश्चात अन्त में 'फ़ाईलुन' भी रहता है । उदाहरणार्थ - 'क्या ग़ज़ब है उसकी तो मर्ज़ी है इसको टाल दो।'

3. कामिल - इस लयखण्ड में 'मुतफ़ाईलुन' शब्द की चार बार आवृत्ति होतीहै । वह रजज़ के काफी समीप है । उदाहरणार्थ - 'ये भी इक सितम है कि ख्वाब में मुझे शक्ल आके दिखा गये ।'

5. वाफ़िर -इस लयखण्ड में गति की अदिकता होती है । अर्थात् इस लयखण्ड में आबद्ध कविताएँ जल्दी-जल्दी पढ़ी जाती है । इसमें 'मुफ़ाईलातुन' शब्द की चार बार आवृत्ति होती है । उदाहरणार्थ - 'कि तेरे बन्दे हैं मेरे मालिक ज़रा हमारा ख़याल रखियो ।'

6. मुतदारिक – इसका शाब्दिक अर्थ 'मिलन' है । यह लयखण्ड अबुल हसन अखफ़स द्वारा निर्मित है । जिसे कालान्तर में ख़लील-बिन-अहमद-बसरी द्वारा निर्मित लयखण्डों में सम्मिलित कर लिया गया । इसमें

'फ़ाईलुन' शब्द की चार बार आवृत्ति होती है । उदाहरणार्थ - 'क्या करूँ मैं गिला यार ने क्या किया ?'

7. मुतक़ारिब - इस लयखण्ड में कर्ता और कर्म एक-दूसरे के पास-पास होते हैं। इसमें 'फ़ऊलुन' शब्द की चार बार आवृत्ति होती है । उदाहरणार्थ - 'है खूने-जिगर मेहमानी तुम्हारी ।'

8. मुनसरिह - इस लयखण्ड में कर्म तथा उपादान सरलता से मिल जाते हैं । इसमें 'मुस्तफ़ेऊलात' शब्दों की दो बार आवृत्ति होती है । उदाहरणार्थ 'इश्क़ सबसे बरतर है ।'

9. मुक़्तज़ब - प्रस्तुत लयखण्ड मुनसरिह से निर्मित किया गया है । इसमें 'मुस्तफ़ेलुन-मफ़ऊलात' प्रयुक्त होते हैं । उदाहरणार्थ - 'किस तरह उठाया जाये हम से रंजे बेताबी ।'

10. मुजारअ - यह लयखण्ड मुनसरिह तथा हज़ज नामक लयखण्डों से मिलता-जुलता है । इसमें 'मफ़ऊल फ़ाईलातुन' नामक शब्दों की दो बार आवृत्ति होती है। उदाहरण - 'हम उन तलक न पहुँचे वो हम तलक न पहुँचे।'

11. खफ़ीफ़ – इस लयखण्ड पर आधारित पंक्तियाँ प्रवाह की दृष्टि से उत्तम होती हैं । 'फ़ाईलातुन मुफ़ाईलुन फ़इलातुन' शब्दों को गुनगुनाते हुए प्रस्तुत लयखण्ड में कविताएँ आबद्ध की जा सकती है । उदाहरण - 'नज़र आती नहीं बिसाल की सूरत ।'

12. मुज्तम - खफ़ीफ़ नामक लयखण्ड से निकाल जाने के कारण यह मुज्तस कलहाया । इसमें 'मुफ़ाईलुन फ़अलातुन' शब्दों की दो बार आवृत्ति होती है । उदाहरणार्थ - 'तुम अपने शिकवे की बातें न खोद-खोद के पूछो ।'

13. तवील - अपने समय में सबसे लम्बा लयखण्ड होने के कारण यह तबील कहलाया । इसमें 'फ़ऊलुन मुफ़ाईलुन' की दो आवृत्तियाँ होती हैं । उदाहरणार्थ-'तुम्हारी जुदाई में लबों पर दम आया है ।'

13. मुदीद - इसकी उत्पत्ति तवील नामक लयखण्ड से हुई है । फ़ारसी और उर्दू की अपेक्षा अरबी में इसका अधिक प्रयोग हुआ है । इसमें 'फ़ऊल फ़ेलुन' शब्दों की तीन बार आवृत्ति होती है । उदाहरणार्थ - 'खुदा की बातें खुदा ही जाने, न मैं ही जानूँ न आप जानें ।'

15. बसीत - इस लयखण्ड में आरम्भिक मात्राएँ खींच कर पढ़ी जाती हैं । इस लयखण्ड पर रचना करने के लिए 'मुस्तफ़ेलुन फ़ायलुन' शब्दों को दो बार गुनगुनाना चाहिए । उदाहरणार्थ - 'नाहक बला में पड़ा क्यों दिल तुझे क्या हुआ ?'

16. सरीअ - प्रस्तुत बह्र शीघ्रता से पढ़ी जाने के कारण सरीअ कहलाई । इस लयखण्ड का रमल नामक लयखण्ड से सादृश्य है । इसमें 'मुस्तफ़ेलुन मफ़ऊलात' शब्दों की दो आवृत्तियाँ पाई जाती हैं । उदाहरणार्थ - 'संग से बुत - बुत से खुदा हो गया ।'

17. क़रीब - प्रस्तुत लयखण्ड मुजारअ तथा हज़ज नामक लयखण्डों से काफी क़रीब है । इसीलिए इसे क़रीब कहा गया । 'फ़ाइलातुन मुस्तफ़ेलुन' को मन में गुनगुनाते हुए इस लयखण्ड पर आधारित रचना लिखी जा सकती है । उदाहरणार्थ - 'एतबार कुछ तो रखो ।'

18. मुशाकिल - यह लयखण्ड क़रीब नामक लयखण्ड से काफी मिलता-जुलता है। इसमें 'फ़ाइलात मुफ़ाईल मुफ़ाईल' शब्दों को गुनगुनाते हुए रचना की जाती है। उदाहरणार्थ - 'बारे ग़म को उठाना ही पड़ा आह ।'

19. जदीद - जदीद का शाब्दिक अर्थ है नूतन या नवीन । कुछ लोगों के अनुसार इसका निर्माण खलील-बिन-अहमद के पश्चात हुआ । कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि इस लयखण्ड का निर्माण ख़लील ने सबसे अन्त में किया । कुछ भी हो अपने समय का सबसे नवीन लयखण्ड होने के कारण यह जदीद कहलाया । इसमें 'फ़ाइलातुन फ़ाइलातुन मुस्तफ़ेलुन' को आधार माना गया है । उदाहरण - 'ले गया वो बेमुरब्बत आरामो दिल ।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि उर्दू-फ़ारसी का सम्पूर्ण छन्द:शास्त्र इन्हीं उन्नीस लयखण्डों पर आधारित है । इनका अध्ययन करके अलग-अलग लयखण्डों पर आधारित अलग-अलग वज़न की ग़ज़लें लिखी गयीं । ग़ज़ल के अतिरिक्त अन्य काव्य रूपों के लिए भी इन्हीं का आश्रय लेना पड़ता है । किन्तु उर्दू-फ़ारसी ग़ज़ल के लिए तो ये लयखण्ड प्राण ही हैं ।

ग़ज़ल के अंग :

ग़ज़ल के अंगों में क़ाफ़िया, रदीफ़, मिसरा तथा शेर का प्रमुख स्थान है । अत: ग़ज़ल शिल्प का सम्पूर्ण विवेचन करने के लिए इसके अंगों का अध्ययन कर लेना नितान्त आवश्यक है ।

क़ाफ़िया - क़ाफ़िया का तात्पर्य तुक से होता है । ग़ज़ल के शेरों में रदीफ़ से पहले जो अन्त्यानुप्रास-युक्त शब्द आते हैं और जिनका प्रयोग तुक मिलाने की दृष्टि से किया जाता है, क़ाफ़िया कहलातके हैं । उर्दू-फ़ारसी में तुक मिलाना हिन्दी की अपेक्षा सरल है क्योंकि वहाँ लगा, सदा, दुआ, बजा आदि का तुक मिला हुआ मान लिया जाता है । ग़ज़ल में रदीफ़ की अपेक्षा का महत्व अधिक है। एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करना समीचीन होगा –

'अगर ज़िन्दगी का सहारा न डूबे ।

खुदा की क़सम दिल हमारा न डूबे ।

मैं तूफ़ाँ से बचकर चला तो हूँ लेकिन –

अरे बदनसीबी किनारा न डूबे ।।'[106]

उक्त ग़ज़ल के शेरों में सहारा, हमारा, किनारा आदि शब्द क़ाफ़िया के रूप में प्रयुक्त किये गये हैं ।

रदीफ़ - ग़ज़ल के शेरों के अन्त में जिन शब्दों की पुनरावृत्ति की जाती है, उन्हें रदीफ़ कहते हैं । यह क़ाफ़िया के बाद आती है और अपने स्थान पर स्थिर रहती है । ग़ज़ल के पहले शेर की दोनों पंक्तियों तथा बाद के प्रत्येक शेर की अन्तिम पंक्ति के अन्त में जिस शब्द-समूह की आवृत्ति पाई जाती है, उसे उस ग़ज़ल की रदीफ़ कहते हैं । उदाहरणार्थ राज़ बरेलवी की एक ग़ज़ल के निम्नलिखित शेर द्रष्टव्य है –

'अदाओ-नाज़ो ग़म्ज़ा बद्‌गुमानी ले के आयी है ।

हज़ारों आफ़तें ज़ालिम जवानी ले के आयी है ।।

खुदा का शुक्र है मेरी मोहब्बत बाअसर निकली –

हिकायत हुस्न की उनकी कहानी ले के आयी है ।।'[107]

इस ग़ज़ल के पहले शेर की दोनों पंक्तियों तथा अगले शेर के अन्त में 'ले के आयी है' शब्द समूह रदीफ़ के रूप में प्रयुक्त किया गया है । कभी-कभी एक ही अक्षर रदीफ़ के रूप में प्रयोग किया जाता है और कभी-कभी आधे से अधिक पंक्ति की रदीफ़ होती है । एक उदाहरण देखिये ।

'मुझे तो प्यार ऐसा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता ।

वो बुत बेज़ार ऐसा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता ।।'[108]

प्रस्तुत ग़ज़ल के उपर्युक्त शेर में कितनी लम्बी रदीफ़ का प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार कुछ ग़ज़लों में रदीफ़ का प्रयोग बिल्कुल नहीं किया जाता है। उदाहरणार्थ ताबिश देहलबी की एक ग़ज़ल की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं –

वो खुश क़िस्म है जो अपनी वफ़ा की दाद यूँ पा ले ।
तेरा दीवाना ही कहकर पुकारें सब जहाँ वाले ।।
न पूछो आतिशे-ग़म से हुआ है हाल क्या दिल का,
यहाँ छाले, वहाँ छाले, इधर छाले, उधर छाले ।।[109]

इस ग़ज़ल में रदीफ़ कोई नहीं है । 'पाले', 'वाले', 'छाले' आदि क़ाफ़िया के रूप में प्रयुक्त हुए हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकांश ग़ज़लों में रदीफ़ का प्रयोग होता है किन्तु कहीं-कहीं अपवादस्वरूप यह नहीं पायी जाती है । अतः रदीफ़ ग़ज़ल के लिए विशेष अनिवार्य नहीं है ।

शेर - यह अरबी भाषा का शब्द है । इसका शाब्दिक अर्थ या बाल है । जिस प्रकार किसी तिरुणी की सुन्दरता की अभिवृद्धि में केश सहायक होते हैं, वैसे ही किसी ग़ज़ल के भाव-सौन्दर्य के लिए उसके शेरों का जानदार होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में ग़ज़ल रूपी सुन्दरी के लिए शेर उसके केश सदृश हैं । इन्हें ग़ज़ल की आधारिक इकाई भी कह सकते हैं । शेर उस ईंट के सदृश भी है जिनके सहारे ग़ज़ल रूपी इमारत खड़ी की जा सकती है । परिभाषा के रूप में 'शेर एक ऐसा ढाँचा है जिसमें विचार ढाले जाते हैं ।'[110]

वास्तव में ग़ज़ल का प्रत्येक शेर अपनी दो पंक्तियों में एक स्वतन्त्र भावचित्र अंकित करने की सामर्थ्य रखता है । अतः हम कह सकते हैं कि शेर ग़ज़ल में प्रयुक्त वह आधारिक इकाई है जिसके संक्षिप्त आयाम में एक स्वतन्त्र भाव-प्रकाशन की क्षमता निहित रहती है ।

ग़ज़ल में शेर के दो अन्य रूप भी पाये जाते हैं ।

मतला - ग़ज़ल के पहले शेर को मतला कहते हैं । इसकी दोनों पंक्तियों में एक ही रदीफ़ और क़ाफ़िया होता है जबकि अन्य शेरों की अंतिम पंक्ति में ही यह विशेषता पायी जाती है । एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी-

'कोई दिन गर ज़िन्दगानी और है ।
अपने जी में हमने ठानी और है ।।
आतिशे-दोज़ख़ में ये गर्मी कहाँ,
सोज़े-ग़म-हाए-निहानी और है ।।'[111]

उक्त ग़ज़ल के पहले शेर की दोनों पंक्तियों में 'और है' रदीफ़ तथा 'ज़िन्दगानी' व 'ठानी' क़ाफ़िये का प्रयोग मिलता है जबकि दूसरे शेर की अंतिम पंक्ति में ही इस नियम का पालन हुआ है । अतः पहला शेर ग़ज़ल का मतला कहा जाएगा ।

मक़ता - ग़ज़ल के अन्तिम शेर को मक़ता कहते हैं । अरबों में मक़ता का शाब्दिक अर्थ कटा हुआ माना गया है । ग़ज़ल में यह इस बात का प्रतीक है कि यहाँ रचना समाप्त होती है या यह ग़ज़ल का अन्तिम शेर है । इसमें प्रायः कविगण या शायर अपने उपनाम या तख़ल्लुस का भी प्रयोग कर देते हैं । उदाहरणार्थ –

'है ये मिरा रफ़ीक़ यही है मिरा शफ़ीक़ –
लूँ किससे वाँ के जाने की दिल के सिवा सलाह ।।
ऐ 'ज़ौक़' जा न होशो-ख़िरद की सहाल पर,
दे इश्क़ जो सलाह वही है बजा सलाह ।।'[112]

इस ग़ज़ल के अन्तिम शेर की प्रथम पंक्ति में 'ज़ौक़' तख़ल्लुस का प्रयोग किया गया है जबकि प्रथम शेर में ऐसा नहीं है । अतः अन्तिम शेर मक़ता कहा जायेगा । कभी-कभी शायर तख़ल्लुस या उपनाम का प्रयोग नहीं भी करते हैं, पर ऐसा कम देखने में आता है । कुछ लोगों की यह भी मान्यता है कि मक़ता में भाव-प्रकाशन की क्षमता अपने चरमोत्कर्ष पर होनी चाहिए । दूसरे शब्दों में मक़ता को ग़ज़ल का सर्वश्रेष्ठ शेर कहा जा सकता है ।

मिसरा - किसी शेर के एक चरण या एक पंक्ति को मिसरा कहते हैं । दोमिसरे मिलकर एक शेर की संरचना करते हैं । शेर के दूसरे मिसरे में रदीफ़ एवं क़ाफ़िये का प्रयोग किया जाता है । उदाहरणार्थ –

'मज़ा तो ये है कि होते हैं वो जो मुझसे ख़फ़ा,
तो और आता है उन पर ज़ियादा प्यार मुझे ।'[113]

उक्त शेर की दोनों अलग-अलग पंक्तियाँ दो मिसरे हैं । अन्तिम मिसरे में 'प्यार मुझे' में रदीफ़ और क़ाफ़िया का प्रयोग मतले के आधार पर किया गया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उर्दू-फ़ारसी ग़ज़लों के शिल्प-विधान में बह्र, क़ाफ़िया और रदीफ़ का विशेष महत्व है । शेर को ग़ज़ल की आधारिक इकाई के रूप में माना गया है । मतला और मक़ता उसके दो अलग-अलग

स्वरूप हैं । चूँकि उर्दू में ग़ज़ल फ़ारसी से आई है, अतः फ़ारसी ग़ज़लों का ही शिल्प-विधान उर्दू में प्रयुक्त किया गया है । उर्दू और फ़ारसी ग़ज़ल के शिल्प-विधान में कोई उल्लेखनीय अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है ।

उर्दू-फ़ारसी ग़ज़लों का संक्षिप्त इतिहास :

ग़ज़ल भारत के लिए एक आयातित विधा है । हिन्दी के पूर्व उर्दू-फ़ारसी भाषाओं में इसने अत्यन्त लोकप्रियता अर्जित की है । उर्दू में तो यह समस्त काव्य-शैलियों की जान समझी जाती रही । आज भी उर्दू साहित्य का भंडार निरन्तर ग़ज़लों से भरा जा रहा है । उर्दू साहित्य में ग़ज़ल की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । प्रारम्भ से ही अनेक कवियों ने इसका पालन-पोषण एवं संबर्द्धन किया । वास्तव में भावपक्ष एवं कलापक्ष की दृष्टि से उर्दू साहित्य में भी ग़ज़लें अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँची किन्तु ग़ज़ल का उद्भव उर्दू भाषा में न होकर फ़ारसी भाषा में हुआ । अतः यदि कहा जाय कि ग़ज़ल का बीजांकुरण अत्युक्ति न होगी । अतः ग़ज़ल के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए उर्दू तथा फ़ारसी दोनों भाषाओं के इतिहास का सम्यक् अवलोकन करना होगा ।

फ़ारसी ग़ज़लों का संक्षिप्त इतिहास :

ग़ज़ल शब्द अरबी भाषा का है । इस कारण अनेक लोगों की यह धारणा है कि ग़ज़ल का उद्भव अरबी से हुआ । किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है । अरबी साहित्य में प्रेम भावना का निरूपण अवश्य हुआ है किन्तु इसका स्वरूप ग़ज़ल का न होकर 'तश्बीब' अथवा 'नसीब' नामक बिधा का है । यद्यपि इन विधाओं में भी ग़ज़ल की भाँति प्रेम और यौवन से सम्बन्धित भावनाओं का चित्रण किया जाता है, किन्तु मूल रूप में यह क़सीदे का ही अंग है । इस प्रकार अरबी कवियों एवं साहित्यकारों के मन में ग़ज़ल की

स्पष्ट कल्पना अवश्य थी किन्तु वह अरबी काव्य का साकार स्वरूप नहीं बन सकी ।

सर्वप्रथम ग़ज़लें ईरान के फ़ारस प्रान्त में बोला जाने वाली फ़ारसी भाषा में कही गई । प्रारम्भ में इनका वर्ण्य विषय प्रेम, श्रृंगार, मदिरा आदि तक सीमित था। ग़ज़ल साहित्य में वर्णित इन विषयों से प्रभावित होकर जब मनुष्य कुमार्गों पर जाने लगे, प्रेम की पवित्रता, विषय-वासना एवं बिलासिता की सीमा को स्पर्श करने लगी तो ग़ज़ल को इससे बचाने के लिए एक नये परिवर्तन की आवश्यकता हुई और यह परिवर्तन सूफ़ी मत के रूप में सामने आया । फलतः लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम में परिवर्तित हो गया और नीति तथा दार्शनिक विषयों पर भी ग़ज़लें लिखी जाने लगी । इस प्रकार ग़ज़ल के वर्ण्य-विषय में भी परिमार्जन हुआ और ग़ज़ल फ़ारसी साहित्य की निधि बन गयी ।

दसवीं शताब्दी में ईरान में रौदकी नामक अंधा कवि हुआ है जिसने सर्व-प्रथम इस विधा को जन्म दिया । इस सम्बन्ध में यह किंवदन्ती है कि एक बार रौदकी तत्कालीन बादशाह के साथ किसी युद्ध पर गया । बादशाह वहाँ जाकर ऐसा व्यस्त हो गया कि उसे घर लौटने की बात ध्यान में न आयी। कुछ समय पश्चात जब बसन्त ऋतु आयी, चारों ओर फूल खिल गये तथा सुगन्धित समीरण प्रेमिका के केशों का स्मरण दिखाने लगी तो रौदकी के हृदय से अनायास ही कुछ पंक्तियाँ फूट पड़ी जिनसे प्रभावित होकर बादशाह स्वदेश लोट आया । कालान्तर में इस प्रकार की कविताएँ ही ग़ज़ल कहलायी ।

फ़ारसी भाषा में ग़ज़ल के जन्म के संबंध में एक अन्य मतानुसार सामंती युग में वहाँ के बादशाहों की प्रशंसा में जो क़सीदे लिखे जाते थे,

उनमें काव्य का एक टुकड़ा 'तश्बीब' के नाम से पुकारा जाता था । इस टुकड़े में कवि को अपने मन की बात कहने की स्वतन्त्रता रहती थी । इसमें वह प्राकृतिक सौंदर्य, प्रेम व वियोग आदि की भावनाएँ व्यक्त करता था । क़सीदे का यह टुकड़ा ही उससे अलग होकर ग़ज़ल बन गया । 'तश्बीब' के शेरों में अपरापर सम्बन्ध नहीं होता था और अधिकतर शेर प्रेम-वार्तालाप पर आधारित होते थे । इसलिए यह शायरी ग़ज़ल के नाम से पहचानी जाने लगी और उसने अपना अलग अस्तित्व स्थापित कर लिया ।'[114]

मोहतरिमा माजिदा हसन ने भी फ़ारसी में ग़ज़ल का जन्म अरबी क़सीदे के प्रारम्भिक स्वरूप से माना है ।[115]

फ़ारसी में ग़ज़ल की उपरोक्त अवधारणाओं के अतिरिक्त रौदकी से लेकर सादी शीराज़ी तक ग़ज़ल की विशाल परम्परा भी मिलती है । फारसी में रौदकी के अतिरिक्त दक़ीक़ी, बाहिदी, निज़ामी, कमाल, बेदिल, फ़ैजा, शेख़ सादी, अमीर खुसरो, हाफ़िज़ शीराज़ी, शाहजाहाँकालीन चन्द्रभान ब्राह्मण आदि ने ग़ज़ल साहित्य को समृद्ध किया .

रौदकी की ग़ज़लें प्रिय प्रदत्त विरहजन्य भावनाओं से सुसम्पन्न हैं । वह अपनी प्रिया के प्रेम से व्याकुल है और उससे एक बार दर्शन दे जाने निवेदन करता हुआ कहता है –

'अय जान-ए-मन अज़ आरजू-ए तो पझमान,

बिन भाय एकी रूप बि बणाय बरी जान ।'[116]

सुप्रसिद्ध फ़ारसी कवि दक़ीक़ी की ग़ज़ल के अनुसार लोग कहते हैं कि धैर्य से काम लो । धैर्य का फल मधुर होता है । हाँ, होता होगा, किन्तु इस संसार में नहीं किसी अन्य संसार में । उदाहरण देखिए -

'गोयन्द सब्र कुन कि लोग सब्र बर दिहद ।
आरी दिहद व लोक व उभरे दिगर दिहद ।'[117]

वाहिदी की ग़ज़लों में प्रेम के अलौकिक पक्ष का निदर्शन होता है । उनके मतानुसार लोग प्रिय का पता पूछते हैं और अनेकानेक निशानियों के बावजूद भी उस तक नहीं पहुँच पा रहे हैं । एक ग़ज़ल का शेर प्रस्तुत है –

'ख़लके निशान-ए-दोस्त तलब मी कुनन्द बाज़,
अज़ दोस्त ग़ाफ़िल अन्द व चन्दी निशाँ कि हस्त ।'[118]

निज़ामी की ग़ज़लें भी प्रेम, सौंदर्य एवं श्रृंगार की भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। अपनी एक ग़ज़ल में प्रिय को संबोधित करते हुए वह कहते हैं कि मुझे केवल इस बात पर दंड मत दो कि मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ । यदि तुम स्वयं अपना चन्द्रमुख दर्पण में देखोगे तो मुग्ध हो जाओगे । ग़ज़ल का शेर द्रष्टव्य है –

'सरजनिशम मकुन कि तु शीत्फातर ज़ मन शबी,
गर निगरी दर आइना रूप चूँ माह-एक-रबीशरा ।'[119]

कमाल की ग़ज़लों में वियोग भावना का प्रादान्य है । उन्हें प्रिय की आंखों से आहें झलकती दिखाई देती हैं, जो उन्होंने कल रात तक उसकी स्मृति में भरी थीं । ग़ज़ल का शेर उद्धरणीय है –

'अज़-चश्म-ए-नीम ख़्वाब-ए तोइमरोज़ ख़ैशान अस्त,
आं नासा हा कि दर गुम-ए-तो दोश कर्दा हम ।'[120]

अट्ठारहवीं शताब्दी में बेदिल नाम के फ़ारसी के एक कवि हुए हैं जिनकी कविता की विशेषता भावों की प्रचुरता नहीं, अपितु जटिलता रही है।

यह अपने रंग के बेजोड़ कवि हुए हैं । इनकी ग़ज़लों में क्लिष्ट शब्दों एवं जटिल भावनाओं के दर्शन होते हैं । संक्षेप में इनकी ग़ज़लों में पांडित्य-प्रदर्शन का मन्तव्य दृष्टिगोचर होता है । इनका अनुसरण करने के कारण ही ग़ालिब की रचनाएँ क्लिष्टता की पराकाष्ठा पर पहुँच सकी हैं ।

फ़ारसी ग़ज़ल साहित्य के इतिहास में इन कवियों के साथ-साथ तीन अन्य ऐसे कवि हुए हैं जिनकी ग़ज़लें साहित्य संसार में अमर हो चुकी हैं । रौदकी ने यदि फ़ारसी ग़ज़ल की नींव रखी है तो सादी शीराज़ी, अमीर ख़ुसरो और हाफ़िज़ शीराज़ी ने उस पर ग़ज़ल का भव्य महल निर्मित किया है ।

यद्यपि सादी तथा अनेक कवियों ने फ़ारसी ग़ज़लें लिखी हैं किन्तु वास्तव में ग़ज़ल को पूर्ण स्वरूप प्रदान करने का श्रेय सादी को ही मिलता है। इन्होंने ऐसी भूमि पर बैठकर रचना की, वहाँ की भाषा, परिवेश और सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्पराएँ फ़ारसी ग़ज़ल की प्रकृति के अनुकूल थी । इसीलिए उनकी ग़ज़लें फ़ारसी साहित्य की अमर निधि हैं । सुप्रसिद्ध फ़ारसी कवि सादी हृदय से सूफ़ी थे । अत: उनकी ग़ज़लों में प्रेम के लौकिक एवं अलौकिक स्वरूप में दर्शन होते हैं । सादी कहते हैं कि प्रेम का आनन्द वह क्या जाने जिसे जीवन में कभी प्रिय के आस्ता से सिर टकराने का अवसर न मिला हो । उदाहरणार्थ –

'हदीस-ए-इश्क़ चि दानद कसे कि दरहमां उम्र
वसरन को फ़्ता वाशद दर-ए-स राई रा ।।[121]

एक अन्य स्थान पर सादी शीराज़ी अपने प्रिय को संबोधित करते हुए कहते हैं – 'मेरे मित्र कहते हैं कि मैंने अपना दिल तुझे क्यों दिया ? उन्हें पहले तुझसे पूछना चाहिए कि तू इतना सुन्दर क्यों हुआ ?' शेर प्रस्तुत है –

'दूस्ताँ मनअ कुनंदम किचरा दिल बतू दादम,
वायद अव्वल बतू गुफ़्तन कि चुनी ख़ूब चराई ।'[122]

सादी की ग़ज़लों में प्रिय प्रदत्त पीड़ा के अनेकानेक शब्दचित्र अंकित हुए हैं। प्रिय की निष्ठुरता से पीड़ित होकर वे अपनी एक ग़ज़ल में उसे संबोधित करते हुए कहते हैं - 'कभी तो एक दृष्टि हमारी ओर करो । तुमने दर्द दिया है, भूले से दवा भी दे दो । तुमने वादा ख़िलाफ बहुत की है, कभी भूलवश ही वादा-वफ़ाई भी कर दो । हम तो नित्य ही तुम्हें याद करते हैं । तुम भी एक-आध दिन हमें याद करके देखो । यह ग़ज़ल सिद्धान्त छोड़ो । इस ग़लत स्वभाव को त्याग दो । जिसे तुम मार देना चाहते हो, दो-एक दिन उसे अपनी सेवा में रखकर भी देखो । सादी, जब हरीफ़ से मुक्ति नहीं तो फिर इसको सहन कर ही लो और निर्णय भाग्य पर छोड़ दो ।' मूल रूप में ग़ज़ल इस प्रकार है –

'आख़िरी निजहे बसू-ए-मा कुन ।
दर्देब तफ़क्कुदी दवा कुन ।।
बिसियार ख़िलाफ़ वादि कर्दी –
आख़िर बिगलत यके वफ़ाकुन ।।
मारा तोबख़ातिरी हमा रोज़
यकें रोज़ तो नेज़ याद-ए-माकुन ।।

ईकाइदा-ए-ख़िलाफ़ बिगुज़ार,

बी खूए मुअनदत रिहा कुन ।।

आरा कि हलाक़ मी पसन्दी,

रोज़ी दो बख़िदमत आशना कुन ।।

सादी चू हरीफ़-ए-नागुज़ोरश्त,

तन दर हि वचश्म दरजा कुन ।।

ज़ेबा न बुवद शिकायत अज़ दोस्त

ज़ेबा हमारोज़ गो जफ़ा कुन ।।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि फ़ारसी ग़ज़ल साहित्य के इतिहास में सादी का महत्वपूर्ण स्थान है ।[123] उन्होंने न केवल फ़ारसी को सजाया और सँवारा, अपितु उसे पूर्णता भी प्रदान की है । इसीलिए सादी को फ़ारसी साहित्य का होमर कहा गया है ।'[124]

इन्हीं की प्रेरणा से अमीर ख़ुसरो ग़ज़ल के क्षेत्र में आये । उनकी ग़ज़लों में सादी का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । उनकी ग़ज़लों में प्रेम और माधुर्य के दर्शन होते हैं । उनकी ग़ज़लों में विरह की तीव्रानुभूति ही नहीं, एक पीड़ाकुल हृदय की करुण पुकार भी मिलती है । सईद नफ़ीस द्वारा सम्पादित 'दीवान-ए-कामिल अमीर ख़ुसरो' में ख़ुसरो की ग़ज़लों की संख्या कुल 1726 बताई गई है।

उनकी ग़ज़लों में प्रेम और सौन्दर्य के अतिरिक्त मदिरा की मस्ती को भी स्वर मिला है । इतना ही नहीं, परम्परागत लीक से हटकर उन्होंने

अपनी ग़ज़लों में अध्यात्म ज्ञान, हितोपदेश, नीतिपाठ और उच्चकोटि के नैतिक मूल्यों के भी दर्शन कराये हैं ।

सर्वप्रथम हम उनकी प्रेमपरक ग़ज़लों का अध्ययन करेंगे । प्रेम की पीड़ा ने उन्हें व्याकुल कर रखा है । वे अपने प्रिय के वियोग में मर रहे हैं, जबकि उनका प्रिय उनसे कुशल-क्षेम तक नहीं पूछता । वे अपने प्रिय को सलाम भेजना चाहते हैं, पर उनका कोई अन्तरंग मित्र नहीं । प्रिय उनके हृदय को चुराकर निश्चिन्त और निष्ठुर बन बैठा है, जबकि उनका संसार प्रिय के अभाव में वीरान हो गया है । वे अपने प्रियके सौन्दर्य के प्रेमी हैं और उसे पाने के अतिरिक्त उन्हें अन्य कोई कामना नहीं है । इन्हीं भावों को ख़ुसरो ने अपनी ग़ज़ल में कितनी विशेषता के साथ प्रस्तुत किया है –

'ज इश्क़त बेक़रा राम बा के गोयम ।
ज हिजरत रव्वार ओ ज़ारम बा के गोयम ।।
न मी मुरबी ज अहवालम कि चुनी,
परेशां रोज़गारम वा के गोयम ।।
हमी ख़्वाहम बिफ़िरिस्तम सलामें,
चूँपक मुहरम न दारम बा के गोयम ।।
दिल बुर्दी ग़म कारम् न खुर्दी,
ख़राबस्त रोज़गारम बा के गोयम ।।
नदारद जुज़ तमन्नए तो ख़ुसरो
जमानत दोस्त दारिम बा के गोयम ।।'[125]

निस्संदेह उनकी प्रेमपरक ग़ज़लों में दर्द भी है, ग़म भी है, तड़प भी है, बेचैनी और बेकरारी भी है और वे सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं जो एक

प्रेमी के हृदय में समय-समय पर जन्म लेती हैं । वस्तुत: उनकी यह ग़ज़लें एक भग्न हृदय की करुण पुकार हैं ।

मदिरा को वे ज़िन्दगी की उलझनों से मुक्ति दिलाने वाली मानते हैं क्योंकि मदिरा के नशे में मनुष्य ऐब भूल जाता है । जीवन की पीड़ाएँ भी उसके सम्मुख आनन्द-मग्न होकर नाच उठती हैं । साक़ी को अपना पूज्य मानते हुए वे कहते हैं –

'अगर अतहाब-ए-हशरत में पारस्तंद –
बियासकी कि मन साक़ी परस्तम ।।
तआला अल्लाह अगीं बहतरिवि बाशद,
कि अज़ नंग-ए-उजूद-ए-ख़ुद बिरुत्तम ।।'[126]

अमीर ख़ुसरो ने अपनी ग़ज़लों में अध्यात्म ज्ञान के अनेक रहस्यों का उद्घाटन भी किया है । चूँकि ये सूफ़ी मतावलम्बी थे अत: अपने अलौकिक प्रिय को संबोधित करते हुए वे कहते हैं – शरीर से काम निकाल लिया और जान ही में छिपे हुए हो । तुमने बहुत दर्द दिये हैं और इसकी दवा तुम्हीं हो। तुमने सार्वजनिक रूप से मेरे हृदय को बेध दिया और इसी में अपना स्थान भी बनाया है। तुमने कहा था, दोनों संसार देकर मुझे ले लो, अपना मूल्य बढ़ाओ क्योंकि तुम सस्ते प्रतीत होते हो । हम रो-रो कर नमक की तरह घुल गये और तुम हँस-हँसकर मिसरी की डली बने जा रहे हो । यह वृद्धावस्था और इश्क़बाज़ी कोई अच्छी वस्तु नहीं है । ख़ुसरो कब तक इन उलझनों में पड़े रहोगे । ग़ज़ल मूल रूप में प्रस्तुत है –

'दिल अज़ तन बुर्दी व दर जानी हनूज़ ।
दर्द हा दादी व दरमानी हनूज ।।

आशकारा सीना अभ विशिगायन्ती –

हम चुनां दए सीना पिनहानी हनूज़ ।।

हर दो आलम क़ीमत-ए-खुद गुफ़्तायी,

निर्ब वाला कुन कि अर्जानी हनूज ।।

माज़ गिरिया चूँ तमक बिगदास्तीम –

तू बधन्दा शकर सितानी हनूज़ ।।

पीरी जो शाहिद परस्ती नारखुश—

अस्तु खुसरवाँ ता के परेशानी हनूज़ ।।[127]

एक अन्य ग़ज़ल में वे संसार की नशवरता एवं ईश्वर की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं – 'हमने प्रेम के पंथ पर पग रखने के पश्चात् आराम और आराइश को त्याग दिया है । हम प्रेम के तूफ़ान में डूब कर नवें आसमान के सिरे पर जा पहुँचे हैं । जो पग प्रेम के पंथ पर पड़ चुका है, हम उसके रास्ते में दृग बिछाते हैं क्योंकि अस्तित्व की स्थिरता भ्रम है । हमने लुप्तता का आश्रय लिया है । इस सृष्टि के निर्माण से पूर्व ही तुम स्वामी हो। अतः हमने कभी इस लोक को तुम्हारे सम्मुख कोई महत्व नहीं दिया ।' उदाहरणार्थ –

'मा कि दर नाहे ग़म क़दमज़दा ईम ।

बरख्ते आफ़ियत क़लमज़दा ईम ।।

मा ब तूफ़ाने इश्क़ गर्क़ा शुदीम,

बर सरे नुह फलक क़लमज़दा ईम ।।

चूँकि अन्दर बुजूद नस्त सवात,

दस्त दर नामा-ए-अदम ज़दा ईम ।।

अज़ सरे नीस्ती सु सुलतानी,

हस्ती-ए-हरदो कौन कम ज़दाईम ।।'[128]

इन ग़ज़लों में ख़ुसरो ने 'ईश्वर की पहचान', 'सब कुछ वही है', 'संसार की अस्थिरता', 'साधक का स्थान', 'चिरजीवित और विनाश का प्रश्न' तथा 'दो जगत की सत्यता' जैसे आध्यात्मिक संदर्भों का विवेचन किया है । इसके अतिरिक्त उनकी ग़ज़लों में उच्च नैतिक मूल्यों का प्रस्तुतीकरण भी हुआ है । एक स्थान पर वे कहते हैं कि यह सांसारिक धन-सम्पत्ति बच्चों को खुश करने वाला एक खेल है । मूर्ख है वे लोग जो इन खेल से धोखा खाते हैं । ऐ ख़ुसरो, इन दुनिया वालों से भागो । आज वफ़ादारी नहीं रही । ये लोग भी दुनिया ही की तरह बेवफ़ा हो चुके हैं । भूल ग़ज़ल इस प्रकार है –

'बाज़ीचा ईस्त तिफ़्ल फ़रेब ई मता-ए-दहर ।

बे अकिल मदु माँ कि बदीं मुबतिला शुदन्द ।।

ख़ुसरो गुरेज़ कुन कि वफ़ा रक्तई जमाँ,

ज अहले जहाँ कि हम चूँ जहाँ बेवफ़ा शुदन्द ।।'[129]

ख़ुसरो की ग़ज़लों में जीवन और मृत्यु की सत्यता, सांसारिकता में लीन होने का परिणाम मित्रों का धोखा, धर्म के नाम पर धोखा, सांसारिक ऐश्वर्य की क्षीण-भंगुरता, अच्छाई और बुराई का स्तर आदि नीति विषयक तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है ।

प्रयोग की दृष्टि से ख़ुसरो ने कुछ ऐसी भी ग़ज़लें लिखी हैं जिनके शेरों में फ़ारसी और हिन्दी दोनों की ही शब्दावली प्रयुक्त हुई है । एक उदाहरण से यह बाल स्पष्ट हो जायेगी –

'जे हाल मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल दुराय नैना बनाय बतियाँ ।

कित ताबे हिज़राँ न दारम ए जाँ न लेहो काहे लगाय छतियाँ ।'[130]

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ख़ुसरो की भाषा सुन्दर और लालित्यपूर्ण है । उनकी ग़ज़लों में शब्द-संगठन और मुहावरों का प्रयोग अत्यन्त कलात्मक एवं सुन्दर है । उनमें एक लय और संगीत भी है । कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से उनकी ग़ज़लों का फ़ारसी काव्य क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ स्थान है ।

ख़ुसरो के पश्चात् हाफ़िज शीराज़ी ने फ़ारसी ग़ज़ल साहित्य को समृद्ध किया । उन्होंने इस दिशा में सादी और अमीर ख़ुसरो का अनुकरण किया । कहना न होगा कि हाफ़िज़ शीराज़ी की ग़ज़लों पर उक्त दोनों कवियों की स्पष्ट छाप पड़ी । उनकी ग़ज़लों में जो जीवन, जो गुण और जो जादू है वह सादी और ख़ुसरो की प्रेरणा का परिणाम है । एक स्थान पर हाफ़िज़ शीराज़ी अपने उल्लास की एक विशेष मन:स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं – रात अँधेरी है, लहरें डरावनी हैं और भँवर इतनी भयानक है कि हमारी इस दशा को किनारे पर खड़े चिन्तारहित व्यक्ति क्या जानें ? ग़ज़ल का शेर प्रस्तुत है –

'शबे तारीको-बीमे-मौजो-गिरदावे धुनी हायल –

कुजा दानन्द हाले मा सुबुक साराने साहिल हा ।।'[131]

उनकी ग़ज़लों में आध्यात्मिकता का स्वर भी झंकृत होता है । उनके गुरु ने बताया है कि ईश्वर की लेखनी से कोई त्रुटि नहीं हुई । पवित्र दृष्टि बधाई के योग्य है जो त्रुटियों की उपेक्षा करती है । उन्हीं के शब्दों में –

'पीरे मा मुफ़्त खतादार क़लमे लनअ न रफ़्त
आफ़री बर नज़रे पाक़ ख़ता वोशिश वाद ।।'[132]

उन्होंने संसार की भौतिक सम्पन्नता की नश्वरता अपनी ग़ज़लों में प्रमाणित की है । पाखंडयुक्त पवित्रता से पाप को श्रेष्ठ समझते हुए वे कहते हैं –

'साक़ी बयार बादा कि माहे सयाम रफ़्त ।
दरदिह क़द्ह कि मोसिमे-नामूसोनाम रफ़्त ।।
वक़्ते-अज़ीज़ रफ़्त-बया ता क़जा कुनेम,
उम्रे कि बेहुज़ूरे सुराही-ओ-जाम रफ़्त ।।'[133]

इस प्रकार हाफ़िज़ की ग़ज़लों में सामाजिक चेतना और आध्यात्मिक दर्शन के अतिरिक्त उच्च नैतिक मूल्यों के प्रतिबिम्ब भी मिलते हैं । ग़ज़ल के क्षेत्र में उन्होंने सादी और अमीर ख़ुसरो द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलकर उसे प्रशस्त किया ।

हाफ़िज़ के पश्चात राजनीतिक उथल-पुथल के कारण लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक फ़ारसी ग़ज़लों के संसार में सन्नाटा छाया रहा । किन्तु सफ़वी काल में पुनः शान्ति की स्थापना के पश्चात ग़ज़ल संसार के द्वार पुनः खुल गये और अनेकानेक कवि विच्छिन्न परम्परा के प्रवर्तन में सन्नद्ध हो गये ।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि फ़ारसी ग़ज़ल का श्रीगणेश दसवीं शताब्दी के कवि रौदकी ने किया । इस परम्परा के प्रवर्तन में दक़ीक़ी, वाहिदी, निज़ामी, कमाल, बेदिल, फ़ैजी, शेख़्ख़ सादी, अमीर ख़ुसरो, हाफ़िज़ शीराज़ी तथा चन्द्रभान ब्राह्मण के अतिरिक्त उर्फ़ी, नज़ीरी नीशांपुरी, साक़िब, सिफ़ाई सफ़ाहानी आदि फ़ारसी कवियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, किन्तु विद्वान समालोचकों के मतानुसार फ़ारसी कविता ने तीन श्रेष्ठ ग़ज़लकारों को ही जन्म दिया । इनके नाम हैं – शादी, खुसरो और हाफ़िज़ । वास्तव में इन्होंने लक्ष्य एवं शिल्प की दृष्टि से फ़ारसी ग़ज़ल को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया । यही कारण है कि हाफ़िज़ के पश्चात ग़ज़ल क्षेत्र में लगभग 150 वर्ष तक सन्नाटा छाये रहने पर भी फ़ारसी ग़ज़ल की यह परम्परा पुनः जीवित हो उठी और आज भी फ़ारसी भाषा में अच्छी ग़ज़लें लिखी जा रही हैं । उर्दू और हिन्दी की भाँति ही फ़ारसी ग़ज़लों का भविष्य निस्संदेह उज्ज्वल है ।

उर्दू ग़ज़लों का इतिहास :

मध्यकालीन इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सुल्तान सलाउद्दीन खिलज़ी की दक्षिण में मुसलमान राज्यों की स्थापना का श्रीगणेश हुआ तत्पश्चात मुहम्मद तुलगलक ने दौलताबाद को राजधानी बनाकर उत्तर भारत की मुसलिम सभ्यता और संस्कृति को सुदूर दक्षिण में पहुँचा दिया । इस प्रकार उत्तरी भारत में विकसित उर्दू भाषा का प्रचार-प्रसार दक्षिण में हो गया । इसके अतिरिक्त दक्षिण में तत्कालीन शासकों ने महत्वपूर्ण पदों पर अच्छी संख्या में हिन्दुओं को नियुक्त किया और हिन्दी को जो उर्दू से काफी मिलती-जुलती थी, अधिकाधिक महत्व देना आरम्भ किया । यही कारण है कि जिस समय उर्दू भारत में बाज़ारू बोली से अधिक महत्व न रखती थी,

उस समय दक्षिण में वह सांस्कृतिक माध्यम के रूप में प्रतिष्ठापित हो गयी।[134]

फलत: उर्दू में साहित्य सृजन का शुभारम्भ दक्षिण से ही हुआ । अन्य काव्यशैलियों के अतिरिक्त उर्दू-साहित्य में ग़ज़ल का विकास भी अनवरत रूप से होता रहा । उर्दू साहित्य में ग़ज़ल के क्रमिक विकास के अध्ययन के लिए सम्पूर्ण उर्दू साहित्य के इतिहास को कई कालों में विभाजित करना होगा । सुप्रसिद्ध उर्दू कवि एवं समालोचक डॉ. रघुपति सहाय फ़िराक़ गोरखपुरी ने उर्दू काव्य के इतिहास को निम्न खण्डों में विभक्त किया है –

1. दक्षिण देशीय काव्य,
2. दिल्ली में उर्दू काव्य का विकास,
3. लखनवी कविता,
4. दिल्ली की मध्यकालीन
5. दरबारों के बचे-खुचे प्रभाव,
6. सामाजिक चेतना और नयी कविता,
7. ग़ज़ल का पुनरुत्थान
8. प्रगतिवादी युग ।[135]

निस्संदेह इस विभाजन के अनुसार लेखक ने उर्दू काव्य के इतिहास पर विस्तार से विचार किया है । इस संदर्भ में बाबू ब्रजरत्नदास कृत 'उर्दू साहित्य का इतिहास' में प्रस्तुत काल-विभाजन भी उल्लेख्य है –

1. उर्दू साहित्य का दक्षिण में आरम्भ,
2. दिल्ली साहित्य केन्द्र का आरम्भ काल,

3. दिल्ली साहित्य केन्द्र का पूर्व मध्य काल,
4. दिल्ली साहित्य केन्द्र का उत्तर मध्य काल,
5. दिल्ली साहित्य केन्द्र का उत्तर काल,
6. लखनऊ साहित्य केन्द्र—नासिख और आतिश,
7. लखनऊ साहित्य केन्द्र—मर्सिए और मर्सिएगो,
8. उर्दू साहित्य के अन्य केन्द्र,
9. उर्दू साहित्य का वर्तमान काल ।

चूँकि बाबू ब्रजरत्नदास की यह कृति सन् 1964 के लगभग प्रकाशित हुई । अतः इसके पश्चात के साहित्य का विवरण इसमें नहीं मिलता है । फिर भी इन दोनों ग्रन्थों के अध्ययन से उर्दू-ग़ज़लों के इतिहास के विषय में हमें पर्याप्त एवं सम्यक् जानकारी उपलब्ध होती है ।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान उर्दू-ग़ज़लों का विभाजन दो खण्डों में करते हैं यथा – 1. प्राचीन, काल, 2. अर्वाचीन काल ।

कुछ अन्य समालोचकों ने इसे चाल खण्डों में विभाजित किया है ।

1. प्राचीन काल,
2. मध्य काल,
3. आधुनिक काल,
4. अत्याधुनिक काल ।

हिन्दी साहित्य में इतिहास में काल-विभाजन उस काल विशेष के आधारस्तम्भ अथवा प्रवर्तक के नाम से किये जाने की भी परम्परा रही है । इसी क्रम में उर्दू ग़ज़लों के संक्षिप्त इतिहास का अध्ययन करने के लिए

सुविधा और सरलता की दृष्टि से हम निम्न प्रकार से काल-विभाजन को उचित मानते हैं –

1. प्राचीन काल (दक्षिणी केन्द्र के शायरों से खाने आरजू तक)
2. मध्य काल (सौदा और मीर से दाग़ और अमीर के समय तक)
3. आधुनिक काल (अमीर मीनाई से 1960 ई. तक)
4. अत्याधुनिक काल (साठोत्तरी उर्दू एवं हिन्दुस्तानी ग़ज़ल)

हिन्दी और उर्दू ग़ज़लकार

वली :

इनका पूरा नाम शमसुद्धीन वली था । इनको उर्दू-ग़ज़ल का ज़नक माना जाता है । इनका जन्म 1668 ई में औरंगाबाद में हुआ । वे कादरिया शेखों के वंशज थे । इन्होंने औरंगाबाद तथा अहमदाबाद में रहकर अध्ययन किया । इन्होंने 1700 ई. तथा 1722 ई. में दिल्ली की यात्रा की । उस समय तक उनका उर्दू का दीवान लिखा जा चुका था । अत: दिल्ली में उनकी ग़ज़लों का बड़ा आदर हुआ । उनके शेरों में अनेक कवियों को उर्दू में काव्य रचना की प्रेरणा भी प्राप्त हुई । इस प्रकार उनकी ग़ज़लों की यश-यात्रा दक्षिण से दिल्ली और उत्तरी भागों तक हुई । जीवन के अन्तिम समय में यह अहमदाबाद आ गये और वही उनकी मृत्यु 1744 ई. में हुई ।

वली की ग़ज़लों में यथेष्ट कोमलता और भाव-सौष्ठव के दर्शन होते हैं। निस्सन्देह उनकी सहज और सरल ग़ज़लें प्रभावशाली काव्य का उत्कृष्ट स्वरूप है । भाषा की दृष्टि से उनकी ग़ज़लों में पूर्ववर्तियों की अपेक्षा दक्षिणीपन कम दिखाई देता है । फिर भी इसकी ग़ज़लों में 'तेरा' के स्थान पर 'तुझ', 'से' के स्थान पर 'सेती' या 'सूँ', 'तरह' के स्थान पर 'न्मन' तथा 'हम' के स्थान पर 'हमन' का प्रेयोग मिलता है । इनकी भाषा प्रवाह से परिपूर्ण है । उदाहरण के लिए उनकी एक ग़ज़ल प्रस्तुत है –

'तुझ लब की सिफ़्त लाले बदख्शां सूँ कहूँगा ।

जादू है तेरे नैन ग़ज़ाला सूँ कहूँ गा ।।

दी हक ने तुझे बादशाही हुस्न नगर की
यह किश्वरे-ईराँ मैं सुलेमाँ सूँ कहूँगा ।।
ज़ख़्मी किया है तुझे तेरे पलकों की अनी ने –
यह ज़ख़्म तेरा खंजरे-भालाँ सूँ कहूँगा ।।
बेसब्र न हो ऐ बली इस दर्द सूँ हरगाहं –
जल्दी से तेरे दर्द की दरमाँ सूँ कहूँगा ।'[136]

वली की कुछ ग़ज़लों की भाषा हिन्दी के अत्यन्त समीप रही है । जैसे-

'विरागी जो कहाते हैं, उन्हें घर-बार करना क्या
हुई जोगन जभी पी की उसे संसार करना क्या ।।
जो पीये कुदरती पानी उसे क्या काम पानी से,
जो भोजन दुख का करते हैं उन्हें आहार करना क्या ।।
न कोई जो धरम धारी कहे प्रीतम से समझाकर,
कि देखा कौन सँझोई से आ बेजार करना क्या ।।'[137]

इस प्रकार वली ने न केवल उर्दू ग़ज़ल का श्रीगणेश ही किया, अपितु उसे दूर-दूर तक फैलाकर अनेक समकालीन परवर्तियों को ग़ज़ल लेखन की प्रेरणा भी प्रदान की । इसीलिए उन्हें उर्दू ग़ज़ल का जन्मदाता माना जाता है।

सिराज :

इनका पूरा नाम सैयद सिराजुद्दीन 'सिराज' था । इनका जन्म सन् 1775 में हुआ । इन्होंने अपने एक गुरुभाई अब्दुर्रसूल खाँ के परामर्श पर फ़ारसी के बजाय उर्दू में शेर कहना आरम्भ किया । कवि के अतिरिक्त यह

एक महान सूफ़ी सन्त भी थे । उनकी मृत्यु 1764 ई. में हुई । इनकी ग़ज़लें साफ-सुथरी और सरल हैं । इनमें न भारी-भरकम शब्दजाल है और न ही दर्शकों का प्रयोग है । इनकी ग़ज़लें अलंकारों के बलात् प्रयोग से भी मुक्त हैं । इनकी ग़ज़लों में आध्यात्मिक प्रेम का चित्रण हुआ है । इनकी एक सुप्रसिद्ध ग़ज़ल प्रस्तुत है –

'ख़बरे-तहय्युरे-इस्क सुन न जुनूँ रहा न परी रही ।
न तो तू रहा न तो मैं रहा जो रही सो बेख़बरी रही ।।
शहे-बेखुदी ने अता किया मुझे अब लिबासे बरह नगी,
न खिरद की बख़िया गिरी रही न जुनूँ की परदादरी रही ।।
चली सिमते-गैब से इक हवा कि चमन सुरूर का जल गया,
मगर एक शाखे-निहाले-ग़म जिसे दिल कहे सो हरी रही ।।
नज़रे तग़ाफ़ुले-यार का गिला किस ज़बाँ से बयाँ करूँ,
कि शराबे-सद-कदा-आरजू खुमे-दिल में भी तो भरी रही ।।
वो अजब घड़ी थी कि जिस घड़ी लिया दर्स नुस्खये-इश्क़ का,
कि किताब अक्ल की ताक पर ज्यूँ धरी थी वूँ ही धरी रही ।।
तेरे जोशे-हैरते-हुस्न का असर इस कदर से अयाँ हुआ,
कि न आइनमे में जिला रही, न परी की जल्वागरी रही ।।
किया ख़ाक आतशे इश्क़ ने दिले-बेनवाये-सिराज़ कूँ,
न ख़तर रहा न हज़र रहा मगर एक बेख़तरी रही ।'[138]

फ़ाइल :

यह गोलकुण्डा के अन्तिम नरेश सुल्तान अबुल हसन तानाशाह के दरबार में थे । इनकी एक मस्नबी 'रूहेअफ़जा' अत्यन्त प्रसिद्ध हुई । इन्होंने ग़ज़लें भी लिखी हैं । इनकी एक ग़ज़ल द्रष्टव्य है –

'तुझ बदन पर जो लाल सारी है –
अक़्ल उसने मेरी बिसारी है ।।
कनक सों सफ़क़दार है वो बदन,
कँवल डाल से हाथ, गुल से चरन ।।
नयन दो कँवल और दो गुल है गाल,
कली चम्पे की नाक को है मिसाल ।।
जूड़ा नहीं गेंद है कन्हैया की,
या सहस नागिनी है दरिया की ।।
हर एक पनिहारिन वाँ अपछरा थी ।।
कुएँ के गिर्द इन्दर की सभा थी ।।
दिल फ़रेबी की अदा उसकी अनूप –
रूप में थी राधिका सों भी सरूप ।।[139]

मज़मून :

इनका पूरा नाम शरफुद्दीन 'मज़मून' था । इतिहास में इनका जीवन-वृत्तु नहीं मिलता है । किन्तु इतना कही जा सकता है कि इन्हें ग़ज़ल-लेखन की प्रेरणा वली के दूसरी बार दिल्ली आगमन के समय प्राप्त हुई थी । इनका जीवन दिल्ली में व्यतीत हुआ । दक्षिणी शायरों से प्राप्त उर्दू-ग़ज़ल की काव्यधारा से दिल्ली की भावभूमि को सिंचित करने वालों में इनका

विशेष महत्व रहा है । इनकी मृत्यु 1745 ई. में हुई । इनकी ग़ज़लों में सूफ़ियाना विषयों की अपेक्षा ठोस भौतिक प्रेम का प्रदर्शन अधिक मिलता है । इन्होंने तकनी शब्दों का यथासम्भव बहिष्कार करके भाषा को साफ तथा प्रवाहपूर्ण बनाया है । इनकी रचनाओं में श्लेष अलंकार का अत्यधिक प्रयोग मिलता है । इनका एक शेर प्रस्तुत है –

'चल किश्ती में आगे से जो वह महबूब जाता है ।
कभी आँखें भर आती हैं कभी जी डूब जाता है ।।[140]

ख़ाने आरज़ू :

इनका पूरा नाम ख़ान सिराजुद्दीन अली ख़ाँ 'आरजू' था । यह 1689 ई. में दिल्ली में उत्पन्न हुए । इन्होंने काव्यशास्त्र का गहन अध्ययन किया । ग्वालियर और दिल्ली में आवास के पश्चात नादिरशाह के आक्रमण के बाद यह लकनऊ जा बसे औ- वहीं 1756 ई. मे इनकी मृत्यु हुई । इनकी ग़ज़लों में भी अपने समकालीनों की भाँति श्लेष अलंकार का प्रयोग बहुलता से मिलता है । इनकी भाषा तथा वर्णन में अत्यधिक निखार एवं चमत्कार दृष्टिगोचर होता है । यह कवि के साथ-साथ आलोचक भी थे । इनका उर्दू काव्य बहुत कम है किन्तु उससे परवर्तियों को प्रेरणा मिली है । मीर हसन ने इन्हें अमीर ख़ुसरो के पश्चात भारत का सबसे बड़ा उर्दू कवि माना है । उनकी ग़ज़ल के दो शेर प्रस्तुत है –

'आता है हर सहर उठ तेरी बराबरी को ।
क्या दिन लगे हैं देखो खुशी दे ख़ाबरी को ।।
उस तुन्द-खू सनम से जब से लगा हूँ मिलने,
हर कोई मानता है मेरी दिलावरी को ।।[141]

इनकी रचनाओं के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन्हें उर्दू भाषा पर पूर्ण अधिकार था ।

इस काल के अन्य कवियों में मुबारक आबरू, मुहम्मद शाकिर 'नाजी', मुस्तफ़ा ख़ाँ यकरंग, अशरफ़ी अली खाँ फ़ुगां, शाह हातिम मज़हर आदि के नाम भी उल्लेख हैं, किन्तु इस युग के ग़ज़लगो कवियों में वली, सिराज, मज़मून और ख़ाने आरजू ही विशेष प्रसिद्ध हुऐ हैं । वास्तव में इन्होंने ही ग़ज़ल साहित्य में इस युग का प्रतिनिधित्व किया है ।

मध्यकाल (सौदा और मौर से दाग़ और अमीर के समय तक) :

उर्दू का जो बीज दक्षिण में अंकुरित हुआ था, उसे दिल्ली की साहित्यिक जलवायु ने पल्लवित तथा पुष्पित होने का अवसर प्रदान किया । दूसरे शब्दों में दिल्ली में उर्दू ग़ज़ल का पर्याप्त विकास हुआ, किन्तु नादिरशाह द्वारा दिल्ली के लूट लिए जाने के पश्चात तत्कालीन प्रमुख कविगण विध्वस्त दिल्ली को छोड़कर लखनऊ में जा बसे और लखनऊ उर्दू काव्य का केन्द्र बन गया । इस काल के कवियों ने भाषा और भावों में पहले की अपेक्षा अधिक ओज उत्पन्न किया । फ़ारसी भावव्यंजना को अधिक अपनाया गया अपना गया तथा हिन्दी शब्दों का भी बहुलता से प्रयोग किया गया । इतना ही नहीं भाषा में वाक्य-विन्यास और व्याकरण सम्बन्धी नियमों का दृढ़ता से पालन किया गया । इस काल में निम्नलिखित प्रमुख कवि हुए हैं –

सौदा :

इनका पूरा नाम मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी सौदा था । इनका जन्म सन् 1714 के मध्य दिल्ली में हुआ माना जाता है । इन्होंने विवाद और हातिम को

अपना काव्य गुरु बनाया । ख़ाने आरजू के परामर्श से यह फ़ारसी के स्थान पर उर्दू में काव्य रचना करने लगे । दिल्ली के अतिरिक्त इन्होंने फ़ारूख़ाबाद, फ़ैज़ाबाद और लखनऊ की भावभूमि को भी अपनी ग़ज़लों के माधुर्य से सिंचित किया । लखनऊ में ही इनकी मृत्यु सन् 1781 में हुई । इनकी ग़ज़लें भावाभिव्यक्ति की नवीनता भाषा के प्रवाह तथा शब्द-सौष्ठव की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की बन पड़ी हैं । इस संदर्भ में उनकी एक ग़ज़ल उद्धृत है –

'टूट तेरी निगह से अगर दिल हबाब का ।
पानी भी फिर पिये तो मज़ा हो शराब का ।।
दोज़ख़ मुझे कुबूल है ऐ मुनकिरो नकीर,
लेकिन नहीं दिमाग सवालों जवाब का ।।
याँ किसके दिल को कशमकशे इश्क़ का दिमाग़,
यारब बुरा हो दीदए-ख़ाना ख़राब का ।।
'सौदा' निगाहे-दीदए-तहक़ीक़ के हुज़ूर –
जल्वा हर एक ज़र्रे में है आफ़्ताब का ।।'[142]

मीर :

यह उर्दू के ग़ज़लकारों में सबसे प्रमुख माने जाते हैं । इनका पूरा नाम मीर तक़ी मीर था । इनका जन्म मन 1724 में हुआ । यह पहले ख़ाने आरजू के पास रहे किन्तु उनके व्यवहार से क्षुब्ध होकर लखनऊ आ गये और वहीं नवाब आसिफ़ुद्दौला के दरबार में प्रविष्ट हो गये । सन् 1810 में लखनऊ में ही उनकी मृत्यु हुई । मीर ने अपना सम्पूर्ण जीवन काव्यसाधना

को समर्पित कर दिया । इनकी ग़ज़लों के छः बड़े-बड़े दीवान मिलते हैं, जिनमों कुल 1839 ग़ज़लें और 83 स्फुट शेर मिलते हैं । इनकी फ़ारसी ग़ज़लों का भी एक दीवान है जो अब तक अप्रकाशित है । मीर की ग़ज़लों का प्रत्येक शेर जादू का प्रभाव रखता है । उनकी ग़ज़लों में जीवन और संगीत की अनुगूँज है । इनकी ग़ज़लें अद्‌भुत ताज़गी, चमत्कार और करुणा से परिपूर्ण हैं । निस्संदेह इनकी ग़ज़लें भावों की मृदुलता और अनुभूति की तीव्रता कं संगम हैं । उनकी एक ग़ज़ल प्रस्तुत है –

'जिस सर को गुरूर आज है याँ ताजबरी का ।
कल उस पे यहीं शोर है फिर नौहागरी का ।।
आफ़ाक़ की मुंज़िल से गया कौन सलामत,
असबाब लुटा राह में याँ हर सफ़री का ।।
ले साँस भी आहिस्ता कि नाजुक है बहुत काम,
आफ़ाक़ के इस कारगाहे शीशागरी का ।।
टुक मीर-जिगर-सोख्तः की जल्द ख़बर ले,
क्या यार भरोसा है चराग़े-सहरी का ।।'[143]

वास्तव में इनकी ग़ज़लों का प्रत्येक शेर उर्दू काव्य का अमूल्य रत्न है। मीर की ग़ज़लों को हम भारतीय संस्कृत का विश्वविद्यालय कह सकते हैं ।[144]

दर्द :

इनका पूरा नाम ख़्वाजा मीर दर्द था । इनका जन्म सूफ़ी सन्तों के एक प्रमुख वंश में सन् 1721 में हुआ था । काव्य रचना की प्रेरणा इन्हें

अपनी वंश परम्परा से प्राप्त हुई । इन्होंने आजीवन दिल्ली में रहकर अपने पूर्वजों की धार्मिक गद्दी को सँभाला । वहीं सन् 1785 में इनकी मृत्यु हुई ।

यह कवि के अतिरिक्त उच्चकोटि के विद्वान और संगीतमर्मज्ञ भी थे । इन्होंने एक छोटा सा दीवान उर्दू में और एक फ़ारसी में लिखा । इनकी ग़ज़लें गागर में सागर भर देने वाली हैं । कठिन से कठिन विषयों को सरल व स्वाभाविक ढंग से कह देना इनकी अपनी विशेषता है । इनकी ग़ज़लें माधुर्य, गीतात्मकता और ध्वन्यात्मक सौंदर्य से परिपूर्ण है । इन्होंने ग़ज़लों में प्रेम का मीठा-मीठा दर्द देकर अपने उपनाम को सार्थक किया है । इनकी भाषा आधुनिक उर्दू के अत्यधिक समीप है । यही कारण है कि इनकी ग़ज़लें हृदय में उतरती चली जाती हैं । उदाहरणस्वरूप इनकी ग़ज़ल देखिए–

'तुहमते चन्द अपने ज़िम्मे धर चले ।
जिसलिए आये थे हम सो कर चले ।।
ज़िन्दगी है या कोई तूफ़ान है,
हम तो इस जीने के हाथों मर चले ।।
शमअ के मानिन्द हम इस बज़्म में,
चश्मे-नम छाये थे, दामन तर चले ।।
साक़िया याँ लग रहा है चल-चलाव,
जब तलक बस चल सके साग़र चले ।।'[145]

सोज़ :

इनका पूरा नाम सैयद महम्मद मीर सोज़ था । यह सन् 1721 में दिल्ली में उत्पन्न हुए । यह फर्रूख़ाबाद व मुर्शिदाबाद में अपना जीवन व्यतीत करते हुए लखनऊ पहुँचे । यहाँ नवाब आसिफ़ुद्दौला ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया । सन् 1768 में लखनऊ में ही उनकी मृत्यु हुई । उन्होंने प्राय: ग़ज़लें ही लिखी हैं । श्रृंगार रस के कवि होने के कारण इनकी ग़ज़लों में आध्यात्मिकता के पुट के स्थान पर भौतिक प्रेम का चित्रण मिलता है । प्रेम-व्यापार में सर्वसाधारण के हृदय में उठने वाली भावनाओं को इन्होंने अपनी ग़ज़लों में प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है । इनकी ग़ज़लें करुणा, सरलता, कोमलता और मधुरता से परिपूर्ण है । उदाहरणार्थ इनकी ग़ज़ल के कुछ शेर प्रस्तुत हैं –

'हुआ दिल को मैं कहता-कहता दिवाना ।
पर उस बेख़बर ने कहा कुछ न माना ।।
मुझे तो तुम्हारी ख़ुशी चाहिए है,
तुम्हें गो हो मंजूर मेरा बुढ़ाना ।।
कहाँ ढूँढू है है कहाँ जाऊँ यारब,
कहीं जा का पता नहीं न ठिकाता ।।'[146]

हसन :

इनका पूरा नाम मीर ग़ुलाम हसन 'हसन' था । यह दिल्ली के सय्यदबाड़ा मुहल्ले में सन् 1740 में उत्पन्न हुए । दिल्ली के पराभव के पश्चात् यह फ़ैज़ाबाद, डीग और लखनऊ में रहे । कविता की प्रेरणा इन्हें अपने पिता तथा दर्द से मिली । इनका देहान्त लखनऊ में सन् 1783 में हुआ । यों तो उन्होंने मस्नवी के क्षेत्र में अधिक सफलता प्राप्त की है, किन्तु

उनकी ग़ज़लें भी कम महत्वपूर्ण नहीं है । उनकी ग़ज़लों पर मीर सोज़ तथा मीर तक़ी मीर की ग़ज़लों की स्पष्ट छाप है । उनकी ग़ज़लें सरल और प्रसाद गुण से परिपूर्ण है । उनकी वर्णन शैली, भाषा, विषय-प्रतिपादन आदि सभी प्रशंनीय हैं । उर्दू में उनकी ग़ज़लों का दीवाना मिलता है । एक ग़ज़ल द्रष्टव्य है –

'वो जब तक कि जुल्फें सँवारा किया ।
खड़ा उस पे मैं जान वारा किया ।।
अभी दिल को लेकर गया मेरे आह,
वो चलता रहा मैं पुकारा किया ।।
क़िमारे मुहब्बत में बाज़ी सदा,
वो जीता किया और मैं हारा किया ।।
किया क़त्ल और जान बख्शी भी की –
हसन उसने एहसाँ दोबारा किया ।।'[147]

नज़ीर अकबराबादी :

इनका जन्म दिल्ली में सन् 1735 और 1737 के मध्य हुआ माना जाता है । इनका प्रारंभिक नाम वली मुहम्मद था । दिल्ली के पराभव के पश्चात् यह आगरा (अकबराबाद) चले आये और जीवनपर्यन्त यहीं रहे । अकबराबाद के नाम पर ही इनका नाम नज़ीर अकबराबादी पड़ा । इनकी मृत्यु सन् 1730 में हुई । इनके उर्दू-काव्य संग्रह में ग़ज़लें उपलब्ध होती हैं । इनकी ग़ज़लों में जीवन की अनेकानेक अनुभूतियों का चित्रण मिलता है । इनकी ग़ज़लों का ध्वनि-सौन्दर्य वंशी की तानों से कम आनन्ददायक नहीं है।

इनकी रचनाओं में रूपकों का प्रयोग बहुलता से मिलता है । इनकी भाषा जनसाधारण की भाषा है जिसमें हिन्दी के शब्दों का बाहुल्य है । इनकी ग़ज़ल के कुछ शेर प्रस्तुत हैं –

'दूर से आये थे साक़ी सुन के मयख़ाने को हम ।
बस तरसते ही चले अफ़सोस पैमाने को हम ।।
मय भी है, मीना भी है, साग़र भी है साक़ी नहीं,
दिल में आता है लगा दें, आग मयख़ाने को हम।।
हमको फँसना था कफ़स में, क्या गिला सैयाद का,
बस तरसते ही रहे हैं, आब और दाने को हम ।।
ताके अबरू में सनम के, क्या खुदाई रह गई –
अब तो पूजेंगे उसी काफ़िर के बुतख़ाने को हम ।।
क्या हुई तक़्सीर हम से, तू बता दे ए 'नज़ीर',
ताकि शादी मर्ग समझें, ऐसे मर जाने को हम ।।'[148]

इंशा :

इनका पूरा नाम सैयद इंशा अल्ला खाँ इंशा था । इनके पूर्वज अरब के प्रसिद्ध क्षेत्र नज़फ़ से दिल्ली आकर बस गये । वही इंशा का जन्म हुआ । बड़े होकर यह शाह आलम के दरबार में प्रविष्ट हो गये । बाद में यह लखनऊ के मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह के मुसाहिब हो गये । अन्त में इनकी मृत्यु सन् 1817 में हुई । मस्तवियों एवं क़सीदों के अतिरिक्त इन्होंने ग़ज़लें भी लिखीं जिनमें गम्भीरता के साथ-साथ व्यंग्य का पुट मिलता है । उदाहरणस्वरूप इनकी एक ग़ज़ल प्रस्तुत है –

'यह जो महंत बैठे हैं राधा के कुण्ड पर ।
अवतार बन के गिरते हैं परियों के झुण्ड पर ।
शिव के गले से पारवती जी लिपट गयीं ।
क्या ही बहार आज है ब्रह्मा के रुण्ड पर ।।
राजा जी एक जोगी के चेले पे ग़श है आप,
आशिक़ हुए हैं वाह अजब लुण्ड मुण्ड पर ।।
इंशा ने सुन के क़िस्सए-फ़रहाद यूँ कहा,
करता है इश्क़ चोट तो ऐसे ही मुण्ड पर ।।'[149]

जुरअत :

इनका वास्तविक नाम यहिया अमान था किन्तु बाद में यह शेख़ क़लन्दर बख्श के नाम से प्रसिद्ध हुए । इनके पिता आगरे से दिल्ली में आ बसे थे । यह जाफ़र अली हसरत के शिष्य थे । युवावस्था में यह अंधे हो गये थे । इनका मृत्यु सन् 1810 में लखनऊ में हुई । इन्होंने उर्दू में एक दीवान लिखा है, जिसमें अन्य काव्य रूपों के साथ-साथ ग़ज़लें हैं । इनकी ग़ज़लों में संयोग-श्रृंगार का सजीव वर्णन मिलता है । भाषा के प्रवाह, शब्द-सौष्ठव, सरलता एवं माधुर्य की दृष्टि से भी इनकी ग़ज़लें प्रशंसनीय हैं । भाषा के प्रवाह, शब्द-सौष्ठव, सरलता एवं माधुर्य की दृष्टि से भी इनकी ग़ज़लें प्रशंसनीय हैं । भाषा के परिमार्जन पर भी इन्होंने ध्यान दिया है । उदाहरणार्थ उनकी ग़ज़ल का एक अंश प्रस्तुत है –

'लग जा गले से, ताब अब ऐ नाजनीं नहीं ।
है है, खुदा के वास्ते मत कर नहीं नहीं ।।

उस बिन जहान कुछ नज़र आता है और ही,
गोया वो आस्मा नहीं वह ज़मीं नहीं ।।
क्या जाने क्या वो उसमें वह ज़मीं नहीं ।।
यूँ और क्या जहान में कोई हसीं नहीं ।।
हैरत है मुझको क्योंकि वो जुरअत है चैन से,
जिस बिन क़रार जी को हमारे कहीं नहीं ।।'[150]

नासिख :

इनका पूरा नाम शेख़ इमाम बख्श इमाम बख्श था । इनका जन्म फ़ैज़ाबाद में हुआ । यह लखनऊ और इलाहाबाद में भी रहे । अन्त में इनका देहान्त सन् 1838 में लखनऊ में हुआ । इनके दो दीवान उपलब्ध है जिनमें ग़ज़लों का आधिक्य है । इनकी ग़ज़लों में लौकिक प्रेम और श्रृंगार के चित्र मिलते हैं । कलापक्ष की दृष्टि से इनकी ग़ज़लें सम्पन्न हैं । इन्होंने नयी-नयी उपमाओं का प्रयोग किया है । इनकी रचनाओं में अरबी-फ़ारसी शब्दों और शब्द-विन्यास का बाहुल्य है । उदाहरणस्वरूप इनकी एक ग़ज़ल प्रस्तुत है –

'चोट दिल को जो लगे आहे-रसा पैदा हो ।
सदमा शीशे को जो पहुँचे तो सदा पैदा हो ।।
मिल गया ख़ाक में पिस-पिस के हसीनों पर मैं,
क़ब्र पर बोये कोई चीज़, हिना पैदा हो ।।
अश्क थम जायें जो फ़ुरकत में तो आहें निकलें,
ख़ुश्क हो जाये जो पानी तो हवा पैदा हो ।।

क्या मुबारक़ है मेरा दस्ते-जुनूँ ऐ नासिख—

बेजए-बूम भी टूटे तो हुमाँ पैदा हो ।।'[151]

आतिश :

इनका पूरा नाम ख़्वाज़ा हैदर अली आतिश था। इनके पिता दिल्ली के एक कुलीन वंशज थे जो बाद में अवध आ गये। आतिश अत्यन्त स्वाभिमानी व्यक्ति थे। इनकी मृत्यु सन् 1846 में हुई। इनकी ग़ज़लों के दो दीवान मिलते हैं। इनकी ग़ज़लों में सरलता, स्वाभाविकता, प्रभाव, संगीत और आध्यात्मिकता का सुन्दर समन्वय हुआ। इनके कृतित्व पर व्यक्तित्व की पूर्ण छाप है। इन्होंने अरबी-फ़ारसी युक्त भाषा का प्रयोग किया है। इनकी ग़ज़लें भावपक्ष व कलापक्ष की दृष्टि से लखनवी कविता का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस सन्दर्भ में इनकी ग़ज़ल का एक अंश द्रष्टव्य है—

'दोस्त हो जब दुश्ने-जाँ हो तो क्या मालूम हो।
आदमी को किस तरह अपनी कज़ा मालूम हो।।
आशिक़ों से पूछिये ख़ूबी लबे-जाँ बख़्श की,
जौहरी को क़द्रे-लाले-बेबहा मालूम हो।।
दाम में लाया है आतिश सब्ज़ये-ख़ते-बुतां,
सच है क्या इंसां को क़िस्मत का लिखा मालूम हो।।'[152]

ग़ालिब :

यद्यपि सुजाउद्दौला एवं आशिफुद्दौला के समय में दिल्ली के बड़े-बड़े कवि अवध चले गए, फिर भी दिल्ली की भावभूमि पर अनेक महाकवि उत्पन्न हुए जिनमें ग़ालिब का नाम विश्व विख्यात है। वैसे इनका जन्म सन् 1796 में आगरा में हुआ। इनका पूरा नाम नाम मिर्ज़ा असदुल्लाह ख़ाँ

ग़ालिब था । यह बचपन से ही कविता करने लगे थे । पहले यह फ़ारसी में लिखते थे । बाद में उर्दू को अपनाया । इनकी मृत्यु 15, फरवरी, 1869 ई. में दिल्ली में हुई । इनकी ग़ज़लों का एक दीवान उपलब्ध है । इन्होंने अधिकतर ग़ज़लें फ़ारसी में कही हैं । स्वाद बदलने के लिए कुछ ग़ज़लें उर्दू में भी कहीं । किन्तु उनमें भी क्लिष्ट शब्दों तथा जटिल भावों का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है । कालान्तर में इन्होंने क्लिष्टता का मोह त्यागकर सरल-सहज शैली में ग़ज़लें कहीं, जिससे वे सफलता के शिखर पर पहुँच सकीं । वर्ण्य विषय की दृष्टि से इनकी ग़ज़लों का आयाम अति विस्तृत है । निस्संदेह यह उर्दू के तुलसीदास या सूरदास है ।[153] इनकी एक ग़ज़ल प्रस्तुत है –

'दिले-नादाँ तुझे हुआ क्या है ।
आख़िर इस दर्द की दवा क्या है ।।
हम हैं मुश्ताक़ और वह बेज़ार,
या इलाही ये माज़रा क्या है ।।
हमको उनसे वफ़ा की है उम्मीद,
जो नहीं जानते वफ़ा क्या है ।।
मैंने माना कि कुछ नहीं ग़ालिब,
मुफ़्त हाथ आये तो बुरा क्या है ।।'[154]

मोमिन :

इनका पूरा नाम हकीम मोमिन खाँ मोमिन था । यह सन् 1800 में दिल्ली में उत्पन्न हुए थे । कालान्तर में इनका विकास एक प्रखर बुद्धि वाले

स्वस्थ नवयुवक के रूप में हुआ । सन् 1851 में एक दुर्घटना में अभिव्यक्ति की मौलिकता एवं भावपक्ष की प्रबलता का समन्वय द्रष्टव्य है । ग़ज़लों की भाषा अरबी-फ़ारसी मिश्रित उर्दू है । आगे चलकर हसरत मोहानी ने इनकी शैली को अपनाकर ग़ज़लों के क्षेत्र में विशेष सफलता प्राप्त की । मोमिन की एक ग़ज़ल प्रस्तुत है –

'असर उसको ज़रा नहीं होता ।
रंज राहत फज़ां नहीं होता ।।
उसने क्या जाने क्या किया लेकर ।
दिल किसी काम का नहीं होता ।।
तुम मेरे पास होते हो गोया
जब कोई दूसरा नहीं होता ।।
क्यों सुने अर्ज़े-मुज़्तरिब मोमिन
सनम आख़िर खुदा नहीं होता ।।'[155]

ज़ौक़ :

इनका पूरा नाम शेख इब्राहीम ज़ौक़ था । इनका जन्म सन् 1789 में दिल्ली में हुआ था । इन्होंने बचपन में ही काव्य रचना का श्रीगणेश किया । जीवन के महत्वपूर्ण पड़ावों से गुज़रते हुए इनकी मृत्यु सन् 1854 में हुई । यह उन्नीसवीं शताब्दी की दिल्ली की मध्यकालीन कविता के आधार स्तम्भों में प्रमुख माने जाते हैं । इनका केवल एक दीवान उपलब्ध है जिसमें 167 ग़ज़लें संगृहीत हैं । इनकी ग़ज़लों में शब्द-चयन, मुहावरों एवं कठिन रदीफ़-क़ाफ़ियों का प्रयोग प्रशंसनीय है । भावों के साँचे में ढले हुए शब्दों एवं

वाक्य-विन्यास के आधार पर अपनी ग़ज़लों के माध्यम से सौंदर्य-बोध कराने में यह पूर्ण सफल हुए हैं । इनकी भाषा सरल, सुगम एवं प्रवाहपूर्ण है । उदाहरणार्थ इनकी एक ग़ज़ल प्रस्तुत है –

'लाई हयात आए क़जां ले चली चले ।।
अपनी खुशी न आए न अपनी ख़ुशी चले ।।
बेहतर तो है यही कि न दुनिया से दिल लगे,
पर क्या करें जो काम न बेदिल-लगी चले ।।
कम होंगे इस बिसात पे हम जैसे बद क़िमार—
जो चाल हम चले निहायत बुरी चले ।।
हों उम्रें ख़िज्र भी तो कहेंगे ब-वक़्ते-मर्ग,
हम क्या रहें यहाँ अभी आये अभी चले ।।
दुनिया ने किसका राहे-फ़ना में दिया है साथ,
तुम भी चले चलो यूँ ही जब तक चली चले ।।
नाज़ाँ न हो ख़िरद पे जो होना है वो ही हो–
दानिश तिरी न कुछ मिरी दानिशवरी चले ।।'[156]

ज़फ़र :

इनका पूरा नाम बहादुरशाह जफ़र था । इनका जन्म 24 अक्तूबर 1775 ई. में हुआ था । आगे चलकर यह मुग़ल साम्राज्य के अन्तिम सम्राट बने । इनका जीवन दु:ख, कष्ट एवं संघर्ष से परिपूर्ण रहा । अन्त में देश-निर्वासन का दण्ड भोगते हुए ये 7 नवम्बर, 1862 को रंगून में दिवंगत हो गये।

साहित्य-सृजन के क्षेत्र में इन्होंने नसीर, ग़ालिब और ज़ौक़ को अपना गुरु बनाया । इनके चार दीवान उपलब्ध हैं, जिनमें संगृहीत ग़ज़लों में हृदय की व्यथा, वेदना, व्याकुलता एवं निराशा का स्वर मुखरित होता है । अरबी-फ़ारसी के कठिन शब्दों को बहुत कम प्रयोग किया है । मुहावरों के प्रयोग से ग़ज़लों में जान आ गयी है । अपनी ग़ज़लों के माध्यम से इन्होंने साहित्यिक चेतना को गम्भीरता एवं नैतिक मूल्यों के आधार पर जीवन-दर्शन की ओर उन्मुख किया है । एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

'पसे मर्ग मेरे मज़ार पर जो दिया किसी ने जला दिया ।
उसे आह । दामने-बाद ने सरेशाम ही से बुझा दिया ।।
मुझे दफ़न करना तू जिस घड़ी, तो ये उससे कहना कि ऐ परी,
वो जो तेरा आशिक़े-ज़ार था, तहे-ख़ाक उसको दबा दिया ।।
दमु गुस्ल से मेरे पेशतर उसे हमदमों ने ये सोचकर,
कहीं जावे उसका न दिल दहल, मेरी लाश पर से हटा दिया ।।
मेरी आँख झपकी थी एक पल, मेरे दिल ने चाहा कि उठके चल,
दिले-बेक़रार ने ओ मियाँ । वहीं चुटकी लेके जगा दिया ।।
मैंने दिल दिया, मैंने जान दी, मगर आह तूने न क़द्र की,
किसी बात को जो कभी कहा, उसे चुटकियों से उड़ा दिया ।।'[157]

दाग़ देहलवी :

इनका पूरा नाम नवाब मिर्ज़ा ख़ां दाग़ देहलवी था । यह 25 मई, 1831 ई. की दिल्ली में उत्पन्न हुए । इन्होंने पहली ग़ज़ल 16 वर्ष की आयु में लाल क़िले में पढ़ी । ज़ौक़ इनके काव्य-गुरु रहे । इन्होंने दिल्ली के

अतिरिक्त रामपुर और हैदराबाद में रहते हुए अपनी जीवन यात्रा पूर्ण की । इनकी मृत्यु 17 फरवरी, 1905 में हुई । इनके चार दीवानों में ग़ज़लें संगृहीत हैं । इन्होंने लखनवी शैली से भाषा का माधुर्य तथा दिल्ली शैली से सरलता और सादगी ग्रहण करके अपनी ग़ज़लों में प्रस्तुत किया । इनकी ग़ज़लों में प्रेम की तीव्र अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब मिलता है । इन्होंने अपनी ग़ज़लों में प्रवाह एवं चुस्ती के साथ-साथ भाषा की सरलता, मुहावरों का उचित प्रयोग, माधुर्य और गीतात्मकता के द्वारा अपूर्व लालित्य उत्पन्न कर दिया है । इनकी मर्मस्पर्शी ग़ज़लें संगीत के निकष पर भी सफल हुई हैं । उदाहरणार्थ इनकी एक ग़ज़ल प्रस्तुत है –

'ग़ज़ल किया तेरे वादे पे एतबार किया ।
तमाम रात क़यामत का इन्तज़ार किया ।।
तड़प फिर ए दिले-नादां, कि ग़ैर कहते हैं –
अख़री कुछ न बनी सब्र इख़्तियार किया ।।
भुला-भुला के जताया है उनको राज़े-निहां,
छुपा-छुपा के मुहब्बत को आशकार किया ।।'[158]

इस काल के अन्य कवियों में पण्डित दयाशंकर नसीम, वाज़िद अलीशाह अख़्तर, सैयद आग़ा हसन अमानत, जलाल, तस्लीम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, किन्तु इस युग का प्रतिनिधित्व करने वाले ग़ज़लकारों में मीर-सौदा, आतिश, नासिख़, नसीम, मोमिन, ग़ालिब, ज़ौक, दाग़ और अमीर अत्यन्त प्रसिद्ध हुए ।

आधुनिक काल (अमीर मीनाई से 1960 ई. तक) :

दाग़ और अमीर मीनाई तक आते-आते दरबारों के बचे-खुचे प्रभाव से उर्दू ग़ज़ल मुक्त हो चली थी । यह सत्य है कि इन कवियों ने फ़ारसी से पृथक उर्दू भाषा को समृद्ध कर उसे आत्मनिर्भर बनाने एवं असीमित माधुर्य और सौष्ठव से सम्पूरित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है । भावपक्ष की दृष्टि से मीर, ग़ालिब एवं ज़फ़र जैसे कवियों ने पारम्परिक ग़ज़लों के अतिरिक्त सामाजिक दुख-दर्द उभर कर आया है । इनकी ग़ज़लों में सामाजिक चेतना एवं जन-जागरण का स्वर मुखरित नहीं हो सका है । मौलाना हाली और आज़ाद जैसे कवियों ने ग़ज़ल के भावपक्ष एवं शिल्प के क्षेत्र में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन किये, जिससे ग़ज़ल अपनी संकीर्ण परिधि को तोड़कर व्यापक आयामों का उद्घाटन करने लगी । इस काल के कवियों में अमीर मीनाई, जिनकी आयामों का उद्घाटन करने लगी । इस काल के कवियों में अमीर मीनाई, जिनकी ग़ज़लों की चर्चा हम कर चुके हैं, के अतिरिक्त निम्नलिखित ग़ज़लगो कवि प्रमुख हैं –

मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' :

इनका जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में दिल्ली में हुआ । काव्य क्षेत्र में यह ज़ौक़ के शिष्य बने । तत्कालीन शिक्षा विभाग में रहते हुए इन्होंने अने पाठ्य पुस्तकें लिखीं । इन्होंने दो बार ईरान की यात्रा करके फ़ारसी का ज्ञान प्राप्त किया । इनका देहान्त 26 जनवरी 1910 ई. को हुआ। मौलाना आज़ाद हमारे प्रमुख गद्यकार एवं समालोचक के रूप में आते हैं । इन्होंने 'आबेहयात' के रूप में सर्वप्रथम उर्दू काव्य का इतिहास लिखा, जिसमें भाषाशास्त्र सम्बन्धी चर्चा की गयी है । इन्होंने ग़ज़ल के क्षेत्र में प्राचीन परम्पराओं एवं साहित्यक मूल्यों के विरुद्ध आवाज़ उठाकर उसे जन-

जीवन से जोड़ने का समर्थन किया । इन्होंने प्रकृति-चित्रण, सामाजिक उन्नयन एवं प्रेम की व्यापकता आदि के नेय विषय ग़ज़ल को प्रदान कर कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से उसे नयी दिशा दी है । अपनी बात के समर्थन में इन्होंने नयी शैली की कुछ रचनाएँ लिखीं जो 'नज़्मे-आज़ाद' के नाम से विख्यात हुई । यह छोटी, सरल एवं बोलचाल की भाषा में हैं । इनमें निहित विषय वैविध्य भी दर्शनीय है । वस्तुतः यह एक सफल ग़ज़लकार की अपेक्षा ग़ज़ल को नयी दिशा देने वाले समालोचक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं ।

मौलाना अलताफ़ हुसैन 'हाली' :

इनका जन्म सन् 1837 में पानीपत में हुआ । आगे चलकर इन्होंने ग़ालिब की शिष्यता ग्रहण की । जीवन के विभिन्न सोपानों को पार करते हुए इनकी मृत्यु 1914 ई. में हुई ।

मौलानाहाली एक अच्छे ग़ज़लकार होने के साथ-साथ एक कुशल समालोचक भी थे । आलोचना के क्षेत्र में इनकी कृति 'मुक़द्दमा-ए-शेरो-शायरी' नये मानदंडों की स्थापना करती है । अपनी लोकप्रियता के कारण इस ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद भी प्रकाशित हुआ । इन्होंने ग़ज़ल की विषयवस्तु एवं शैली से संबन्धित प्राचीन मूल्यों को तोड़कर अंग्रेज़ी काव्य से विषयवस्तु ग्रहण करने और जीवन के सरल किन्तु जीवन्त चित्र अंकित करने पर बल दिया । इन्होंने लखनऊ शैली की उस कविता के विरुद्ध आवाज़ उठाई जिसमें अस्वाभाविकता, भद्दी कल्पना एवं शाब्दिक खिलवाड़ के अतिरिक्त निम्न स्तरीय वासना का अंश भी निहित था । ग़ज़ल को निखार एवं सौन्दर्य प्रदान कर इन्होंने उसमें दार्शनिक तत्वों की अपेक्षा व्यक्तिगत महत्ता के समावेश पर बल दिया और परम्परागत ग़ज़लों में वर्णित प्रेम को संकीर्ण परिधि से निकाल कर उदात्त एवं व्यापक स्वरूप प्रदान

किया। इन्होंने ग़ज़ल के पुनरुत्थान का बीड़ा उठाते हुए निम्नलिखित सुझाव भी प्रदान किये –

1. ग़ज़ल में प्रेम का चित्रण व्यापक अर्थों में किया जाय जो मित्रता और प्रेम के समस्त रूपों पर लागू हो सके ।

2. कोई शब्द ऐसा न प्रयुक्त किया जाय जिससे प्रेम-पात्र के स्त्री या पुरुष होने का ज्ञान हो सके ।

3. ग़ज़लों में जो विचार व्यक्त किया जाय उसकी नींव वास्तविकता पर होनी चाहिए ।

4. मदिरा प्रसंग, मौलवी, शेख़, धर्मोपदेशकों पर व्यंग्य तथा धार्मिक जनों की निन्दा सम्बन्धी प्रसंगों से बचना चाहिए और पाखण्ड, छल-कपट तथा ढोंग की निन्दा करने वाले विचारों को व्यक्त करके समाज में नैतिक मूल्यों की प्रतिस्थापना में सहयोग देना चाहिए ।

5. ग़ज़ल के अन्तर्गत आनन्द, दु:ख, आशा, प्रायश्चित, कृतज्ञता, उपालम्भ, संयम, सन्तोष, घृणा, दया, न्याय, क्रोध, आश्चर्य, निराशा, अभिलाषा, प्रतीक्षा, देशप्रेम, धर्मप्रेम, राष्ट्रीय सहानुभूति, ईश्वर-भक्ति, संसार की नश्वरता तथा हृदय की अन्य सच्ची अनुभूति, ईश्वर-भक्ति, संसार की नश्वरता तथा हृदय की अन्य सच्ची अनुभूतियों के शब्दचित्र अंकित किये जा सकते हैं ।

6. ग़ज़ल में अन्य काव्य रूपों की अपेक्षा सरल, स्पष्ट, प्रवाहपूर्ण तथा दैनिक बोलचाल की मुहावरेदार भाषा प्रयोग करना चाहिए । अर्थ को स्पष्ट करने के लिए रूपक एवं प्रतीक का आश्रय लिया जा सकता है ।

7. ग़ज़ल के क्षेत्र में कठिन ज़मीनों के प्रयोग से बचना चाहिए । रदीफ़ ऐसी चुननी चाहिये जो क़ाफ़िये से मेल खाती हो । धीरे-धीरे रदीफ़-युक्त ग़ज़लें लिखना कम करके सरल एवं उत्तम क़ाफ़िये का कलापूर्ण प्रयोग करना चाहिए ।

8. अतिशयोक्ति एवं अन्य शब्दालंकारों के प्रयोग से बचकर ग़ज़ल की स्वाभाविकता को बनाये रखना चाहिए । ग़ज़ल में संक्षिप्तता एवं अनुभूति की तीव्रता पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

मौलाना हाली ने ग़ज़ल के क्षेत्र में केवल सुधारवादी उपदेश ही नहीं दिये हैं, अपितु उनका पालन भी किया है । उनकी ग़ज़लों का संकलन 'कुल्लियाते हाली' के नाम से यहाँ प्रसिद्ध है । उनकी ग़ज़ल के कुछ शेर प्रस्तुत करना यहाँ असंगत न होगा –

'है जुस्तजू कि ख़ूब से है ख़ूबतर कहाँ ।
अब ठहरती है देखिए जाकर नज़र कहाँ ।।
इक उम्र चाहिए कि गवारा हो नीशे-उम्र –
रखी है आज लज़्ज़ते-ज़ख़्मे-जिगर कहाँ ।।
हम जिस पे मर रहे हैं वो है बात ही कुछ और ।
आलम में तुझसे लाख सही, तू मगर कहाँ ।।
हाली निशाते-नग़्मा-ओ-मय ढूँढ़ते हो अब ।
आए हो वक़्ते-सुबह रहे रात-भर कहाँ ।।'[159]

इस प्रकार मौलाना हाली ने ग़ज़ल के कथ्य एवं शिल्प के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन करके जो नया पथ प्रशस्त किया उस पर परवर्तियों का

अनुसरण करते हुए उनके निर्देशों को किसी न किसी रूप में ग्रहण किया और इस प्रकार ग़ज़ल के क्षेत्र में एक नयी परम्परा का सूत्रपात हुआ ।

अकबर इलाहाबादी :

इनका पूरा नाम सैयद अकबर हुसैन था । इन्होंने 16 नवम्बर, 1846 को इलाहाबाद ज़िले के बारा नामक स्थान पर जन्म लिया । इनका देहावसान सितम्बर, 1921 को हुआ । यह सर्वहारा जनता के सुख-दुख के प्रति विशेष सजग थे । इनकी ग़ज़लों में मानव-प्रेम तथा सामाजिक विसंगतियों के व्यंग्य-चित्र देखने को मिलते हैं । इस सन्दर्भ में एक ग़ज़ल देखिये -

'दिल मेरा जिससे बहलता कोई ऐसा न मिला ।
बुत के बंदे तो मिले अल्लाह का बंदा न मिला ।।
गुल के ख्वाहाँ तो नज़र आए बहुत इत्र फ़रोश,
तालिब-ए-ज़मज़मा-ए-बुलबुल-ए-शैदा न मिला ।।
वाह क्या राह दिखाई हमें मुरशद ने,
कर दिया काबे को गुम और कलीसा न मिला ।।
सैयद उट्ठे जो ग़ज़ट ले के तो लाखों लाये,
शेख़ कुर्रान दिखाता फिरा पैसा न मिला ।।'[160]

डॉ. इक़बाल :

इनका पूरा नाम पर मुहम्मद इक़बाल था । यह सन् 1875 में स्यालकोट (पंजाब) में उत्पन्न हुए । इन्होंने साहित्य-सृजन का श्रीगणेश ग़ज़लों से ही किया । इन्होंने दर्शनशास्त्र में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की।

इनका निधन 21 अप्रैल, 1969 को लाहौर में हुआ । इनकी आरम्भिक ग़ज़लों में दाग़ की कोमलता, सरलता, सरसता एवं उक्ति-वैचित्र्य के स्पष्ट दर्शन होते हैं । बाद की ग़ज़लों में हाली एवं आज़ाद से प्रभावित होकर सामाजिक चेतना को स्वर दिया है । इनकी ग़ज़लों में भावुकता एवं सौंदर्य-बोध के साथ-साथ दार्शनिकता का पुट भी मिलता है । इनकी कुछ ग़ज़लें सूफ़ी मत से प्रभावित हैं, किन्तु इनकी शैली परम्परागत न होकर सुधारवादी हैं । इन्होंने ग़ज़लों की अपेक्षा नज़्में अधिक लिखी हैं जो देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत हैं । यह वासनात्मक प्रेम के विरोधी हैं । इनकी ग़ज़लों में वर्णित प्रेम की भावना उदात्त, व्यापक और ईश्वरीय है । इन्होंने अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग बहुलता से किया है । जिसके कारण इनकी अधिकांश ग़ज़लें विष और शैली की दृष्टि से अपने परम्परागत स्वरूप से पृथक प्रतीत होती है । अनेक काव्य-संग्रहों में इनकी ग़ज़लें संकलित हैं । उदाहरणार्थ –

'कभी ऐ हक़ीक़ते मुन्तज़र नज़र आ लिबासे-मजाज में ।
कि हज़ारों सज़दे तड़प रहे हैं मेरी ज़मीने-नयाज़ में
न वो इश्क़ में रही गर्मियाँ न वो हुस्न में रही शोखियाँ,
न वो ग़ज़नवी में तड़प रही न वो ख़म है जुल्फ़े अयाज़ में
न बचा-बचा के तू रख इसे तेरा आईना है वो आईना,
जो शिकस्ता हो तो अज़ीज़तर है निगाहे-आईनासाज़ में ।।
तुझे क्या बतायें कि हमनसीं हमें मौत में जो मज़ा मिला –
न मिला मसीहो ख़ज़िर को भी वो निशाते उम्रे दराज़ में ।।
न कहीं जहाँ में अमाँ मिली जो अमाँ मिली तो कहाँ मिली

मेरे जुर्म हाय-सियाह को येरे अफ़दे-बन्दानवाज़ में ।।'[161]

निस्संदेह डॉ. इक़बाल की काव्य-प्रतिभा मिल्टन और रवीन्द्रनाथ टैगोर के काव्य-गुणों का समन्वित स्वरूप है । वह सत्य और शिव के कवि हैं ।[162]

सूफ़ी लखनवी :

इनका पूरा नाम मौलाना अली नकी था । इनका जन्म 3 जनवरी, 1862 को हुआ था । यह कुछ दिनों अंग्रेज़ी के अध्यापक तथा बाद में दीवानी कर्मचारी रहे । इनका स्वर्गवास 15 जून, 1950 ई. को हुआ । इनकी ग़ज़लों का एक दीवान प्रकाशित हुआ है । इन्होंने ग़ज़ल के क्षेत्र में लखनवी शैली को पवित्र एवं ललित स्वरूप में प्रस्तुत किया । इनकी ग़ज़लों में सरलता, प्रभावोत्पादकता, संगीतात्मकता की त्रिवेणी प्रवाहित हुई है । इनकी भाषा सरल, प्रवाहपूर्ण, मुहावरेदार एवं दैनिक बोलचाल की है । इस प्रकार भाषा एवं शैली की दृष्टि से इनकी ग़ज़लें अद्वितीय हैं । उदाहरणार्थ, इनकी ग़ज़ल के कुछ शेर देखिए –

'तालिबे-दीद पे आँच आये ये मंजूर नहीं ।
दिल पे है वरना वो बिजली जो सरे तूर नहीं ।।
हमको परवाना-ओ-बुलबुल की रक़ाबत से गरज—
गुल में वह रंग नहीं, शमअ में वह नूर नहीं ।।
कभी कैसे हो सफ़ी पूछ तो लेता कोई,
दिल दही का मगर इस शहर में दस्तूर नहीं ।।'[163]

नज़र लखनवी :

इनका जन्म कायस्थ परिवार में 1866 ई. में हुआ था । इनका पूरा नाम मुंशी नौबतराय था । इनकी मृत्यु 1923 ई. में श्वास रोग से हुई । इन्होंने परम्परागत लखनवी शैली से हटकर सफ़ी की भाँति ग़ज़ल के क्षेत्र में नये आयामों का उद्‌घाटन किया । कारण इनकी ग़ज़लों की प्रधान विशेषता है । इसके अतिरिक्त सरल, प्रवाहपूर्ण एवं मुहावरेदार भाषा, अर्थगम्भीर्य शब्द-संचयन, संगीतात्मकता तथा माधुर्य इनकी ग़ज़लों की अन्य विशेषताएँ हैं । उदाहरणार्थ, इनकी ग़ज़ल से कुछ शेर प्रस्तुत हैं –

'अभी मरना बहुत दुश्वार है ग़म की कशमकश से,
अदा हो जायेगा यह फ़र्ज़ भी, फ़ुरसत अगर होगी ।।
मुआफ़ ऐ हमनशीं । गर आह कोई लब पे आ जाये,
तबीयत रफ़्ता-रफ़्ता ख़गरे-दर्द जिगर होगी ।।'[164]

साक़िब लखनवी :

इनका जन्म 2 जनवरी, 1869 ई. को आगरा में हुआ । इनका पूरा नाम मिर्ज़ा मिर्ज़ा ज़ाकिर हुसैन कज़लबाश जा । बारह वर्ष की आयु से यह ग़ज़ल लिखने लगे थे । ग़ज़ल के क्षेत्र में इनका महत्वपूर्ण स्थान है । इनकी मृत्यु 22 नवम्बर, 1946 ई. को हुई । इनकी ग़ज़लें भाषा की सरलता, प्रवाहपरिपूर्णता, मुहावराबंदी, शब्द-संचयन एवं अनुभूति की तीव्रता से युक्त है । इनकी ग़ज़लों में ओज एवं कल्पना की उड़ान भी देखने को मिलती है । इनके शेर गागर में सागर भरने की क्षमता रखते हैं । इनका एक ही दीवान प्रकाशित हुआ है । इनकी ग़ज़ल की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

'हिज्र की जब नाला-ए-दिल को सदा देने लगे ।

सुनने वाले रात कटने की दवा देने लगे ।।
कि नज़र से आपने देखा दिले मज़रूह को,
ज़ख़्म जो कुछ भर चले थे, फिर हुआ देने लगे ।।
मुट्ठियों में ख़ाक लेकर दोस्त आए वक़्ते-दफ़्न
ज़िन्दगी भर की मोहब्बत का सिला देने लगे ।।'[165]

आरज़ू लखनवी :

इनका पूरा नाम सैयद अनवर हुसैन था । यह 18 फरवरी, 1872 ई. को उत्पन्न हुए । कविता के प्रति इनकी रुचि बाल्यकाल से ही थी । लेखन ही इनकी आजीविका रही । इनका देहान्त 1951 ई. में कराची में हुआ । इन्होंने अन्य प्रचलित काव्य-रूपों के अतिरिक्त ग़ज़ल के क्षेत्र में भी प्रसिद्धि प्राप्त की । इनकी ग़ज़लों का भावपक्ष 'मीर' से प्रभावित है । इनकी ग़ज़लों में माधुर्य, कोमलता एवं करुणा के दर्शन होते हैं । प्रवाहपूर्ण, शब्द-संचयन तथा गैयात्मकता एवं करुणा के दर्शन होते हैं । प्रवाहपूर्ण, शब्द-संचयन तथा गेयात्मकता उनकी ग़ज़लों की विशिष्टता है । उन्होंने मुहावरेदार भाषा का प्रयोग करते हुए हिन्दी और उर्दू के अन्तर को दूर करने की चेष्टा की है। इतना ही नहीं, उर्दू ग़ज़ल के साथ-साथ उन्होंने कुछ शुद्ध हिन्दी ग़ज़लें भी लिखी हैं, जिनकी चर्चा हम आगे हिन्दी ग़ज़ल के सन्दर्भ में करेंगे । इनकी उर्दू ग़ज़ल के कुछ शेर देखिये -

'ज़माना याद तेरा ऐ दिल नाकाम आता है ।
टपक पड़ते हैं आँसू जब वफ़ा का नाम आता है ।।
अकेले करवटें हैं रात भर बिस्तर पे, और हम हैं,

वहाँ पहलू को ख़ाली देखकर आराम आता है ।।

हसीनों में बसर कर दी जवानी 'आरजू' हमने,

लगाना दिल का सीखे हैं, यही इक काम आता है ।।'[166]

जोश मल्सियानी :

इनका जन्म जालन्धर ज़िले के मल्सियाँ नामक कस्बे में 1 फरवरी, 1884 ई. को हुआ था । शिक्षा प्राप्त कर यह फ़ारसी के अध्यापक हो गये । यह दाग़ देहलवी के शिष्य रहे । इनका काव्य संग्रह 'वादए-सरजोश 1940ई. में प्रकाशित हुआ । इनकी पारम्परिक ग़ज़लों में वैयक्तिकता एवं हृदय की तीव्रानुभूति के स्वर मुखरित होते हैं । इनके विचार गम्भीर किन्तु बोधगम्य हैं । इनकी ग़ज़लों में सरलता, प्रवाह, शिल्प एवं शब्द-संचयन प्रशंसनीय है । इनकी ग़ज़ल की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

'सब्र से अब तो ग़ज़ारा होगा ।

चारासाज़ों से न चारा होगा ।।

कल जिसे डूबते देखा तुमने,

मेरी किस्मत का सितारा होगा ।।

कोई आफ़त न टलेगी ऐ 'जोश',

जब तक उनका न इशारा होगा ।।'[167]

आसी ग़ाज़ीपुरी :

यह सूफ़ी संत थे । इनके जीवन के विषय में सम्पूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं है । इनका पूरा नाम अब्दुल अलीम था । इनकी मृत्यु 1917 ई. में हुई। यह लखनऊ के नासिख स्कूल के अनुयायी थे । इनकी भाषा लखनवी है ।

इन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतियों को भौतिक प्रेम प्रतीकों से अभिव्यक्त करने में अद्वितीय सफलता प्राप्त की । इनकी ग़ज़ल के कुछ शेर प्रस्तुत हैं –

'जो रही और कोई दम यही हालत दिल की ।
आज है पहलुए-ग़मनाक से रुख़सत दिल की ।।
घर छुटा शहर छुटा, कूचए-दिलदार छुटा,
कोहे-सहरा में लिये फिरती है वहशत दिल की ।।'[168]

हसरत मोहानी :

इनका पूरा नाम सैयद फ़ज़लुल हसन था । इनका जन्म 1875 ई. में उन्नाव जनपद के मोहान मामक क़स्बे में हुआ था । इन्होंने अलीगढ़ से बी.ए. करने के उपरान्त एक पत्रिका 'उर्दू-ए-मुअल्ला' का सम्पादन किया । वह मोमिन परम्परा के समर्थक थे । इनकी मृत्यु 13 मई, 1951 ई. को लखनऊ में हुई । मोमिन की परम्परा के साथ-साथ इन्होंने शाद अज़ीमाबादी से प्रभावित होकर ग़ज़ल को नये आयाम प्रदान किये । इनकी ग़ज़लों का मूल तत्व संवेदना है । इन्होंने सांसारिक प्रेम के जीवन्त चित्र अपनी ग़ज़लों में प्रस्तुत किये । प्रेम के इन वास्तविक चित्रों में शालीनता एवं मर्यादा का बराबर ध्यान रखा गया है । इनके 13 दीवान प्रकाशित हुए हैं । इनकी ग़ज़लें भाषा की दृष्टि से सरल, सुस्पष्ट एवं प्रवाहपूर्ण है । एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

'भुलाता लाख हूँ लेकिन बराबर याद आते हैं ।
इलाही तर्के-उल्फ़त पर वो क्योंकर याद आते हैं ।।
नहीं आती तो याद उनकी महीनों तक नहीं आती ।

मगर जब याद आते हैं तो अक्सर याद आते हैं ।।

हक़ीक़त खुल गई 'हसरत' तिरे तर्के मोहब्बत की,

तुझे तो अब वो पहले से भी बढ़कर याद आते हैं ।।'[169]

असग़र गोंडवी :

इनका जन्म मार्च, 1884 ई. में हुआ था । इनका पूरा नाम असग़र हुसैन था । साधारण शिक्षा-दीक्षा प्राप्त कर इन्होंने 'उर्दू मरकज़' तथा 'हिन्दोस्तानी' पत्रिकाओं का संपादन किया । इनकी मृत्यु 1936 ई. में इलाहाबाद में हुई ।

इनको दे काव्य संग्रह 'नशातेरूह' तथा 'सरोदे-ज़िन्दगी' प्रकाशित हुए जिनमें 112 उर्दू ग़ज़लें तथा चार-पाँच फ़ारसी ग़ज़लें संगृहीत हैं । इनकी ग़ज़लों में सूफ़ीवादी चेतना का परिष्कृत स्वरूप देखने को मिलता है । इनकी ग़ज़लें पवित्रता की भावना से परिपूर्ण हैं । इन्होंने आध्यात्मिक प्रेम के सनातन आनन्दमय स्वरूप को प्रस्तुत किया है । किन्तु ईस स्तर पर भी प्रेम की तीव्रता मन्द नहीं हुई, अपितु यह आध्यात्मिक प्रेम ठोस भौतिक प्रेम से भी अधिक मार्मिक एवं जीवन्त बन पड़ा है ।

इनकी ग़ज़लों में चुस्ती, प्रवाह एवं गीतात्मकता दर्शनीय है । इन्होंने फ़ारसीयुक्त उर्दू भाषा का प्रयोग किया है । इन्होंने भी मौलाना हाली एवं आज़ाद द्वारा प्रवर्तित ग़ज़ल के पुनरुत्थान आन्दोलन में सर्जनात्मक सहयोग प्रदान किया । इनकी ग़ज़ल की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं –

'फिर मैं नज़र आया न तमाशा नज़र आया ।

जब तू नज़र आया तुझे तनहा नज़र आया ।।

अट्ठे अजब अन्दाज़ से वह जोशे-ग़ज़ब में,

चढ़ता हुआ इक हुस्न का दरिया नज़र आया ।।

किस दर्जा तेरा हुस्न भी आशोबे-जहाँ है,

जिस ज़र्रे को देखा तो तड़पता नज़र आया ।।'[170]

जिगर मुरादाबादी :

इनका जन्म 1890 ई. में मुरादाबाद के एक अध्ययनशील परिवार में हुआ । इनका पूरा नाम अली सिकन्दर था । इन्होंने बाल्यावस्था से ही ग़ज़ल लिखना आरम्भ किया । असग़र गोंडवी के सम्पर्क में आने पर यह सूफ़ीवाद के समर्पणवादी आनन्दमय मार्ग पर चलने लगे । इनकी ग़ज़लों में निहित तड़प और मस्ती आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों स्तरों पर लाहू होती । इनकी ग़ज़लों की भाषा सरल एवं प्रवाहपूर्ण है । इनकी ग़ज़लें संगीतात्मकता के गुण से परिपूर्ण होने के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हुई । इनकी मृत्यु 9 सितम्बर, 1960 ई. को गोंडा में हुई । 'दाग़े ज़िगर', 'शाला-ए-तूर', 'आतिशे गुल' इनके तीन प्रकाशित दीवान हैं । इन्हें सर्वाधिक सफलता ग़ज़लों के ही क्षेत्र में प्राप्त हुई । कतिपय आलोचकों ने इन्हें ग़ज़लों का बादशाह भी कहा है । इनकी ग़ज़ल की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं –

'दिल में किसी के राह किये जा रहा हूँ में ।

कितना हसीं गुनाह किए जा रहा हूँ मैं ।।

मुझसे लगे हैं इश्क़ की अज़्मत को चार चाँद,

खुद हुस्न को गवाह किए जा रहा हूँ मैं ।।

मुझसे अदा हुआ है 'जिगर' जुस्तजू का हक़,

हर ज़र्रे को गवाह किए जा रहा हूँ मैं ।।'[171]

मजाज़ :

इनका जन्म 2 फरवरी, 1909 ई. को लखनऊ के समीप रुदौली नामक कस्बे में हुआ जा । इनका पूरा नाम असरारुल हक़ था । अलीगढ़ से बी.ए. करने के बाद यह दिल्ली की रेडियो पत्रिका 'आवाज़' के सम्पादक हो गए । यहाँ एक प्रेम में असफल होने के कारण इन्होंने मदिरापन आरम्भ कर दिया । इसीलिए इनकी मृत्यु 6 दिसम्बर, 1955 ई. को युवावस्था में ही हो गयी । इनका साहित्य जीवन 1930 से आरम्भ होता है । इनका एक काव्यसंग्रह 'आहंग' प्रकाशित हुआ । यह एक प्रगतिवादी कवि हैं । इनकी ग़ज़लों में भावपक्ष काफ़ी सशक्त है, किन्तु रोमांस इनकी आत्मा में निहित है। इनकी ग़ज़लें प्रेम-पीड़ा से ओत-प्रोत हैं । इस आधार पर यदि इन्हें उर्दू का 'कीट्स' कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा । इनकी ग़ज़ल की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

> 'खुद दिल में रह के आँख से पर्दा करे कोई ।
> हाँ लुत्फ़ जब है पा के भी ढूँढ़ा करे कोई ।।
> तुमने तो हुक्मे-तर्के-तमन्ना सुना दिया,
> किस दिल से आह तर्के तमन्ना करे कोई ।।
> होती है इसमें हुश्न की तौहीन-ए-मजाज़
> इतना न अहले इश्क़ को रुसवा करे कोई ।।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह युग सामाजिक चेतना और ग़ज़ल के पुनरुत्थान का युग रहा है । मौलाना तथा आज़ाद जैसे सुप्रसिद्ध समालोचकों ने ग़ज़ल के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन की उद्घोषणा की । जिसके फलस्वरूप ग़ज़ल अपने पारम्परिक संकीर्ण स्वरूप को त्याग कर

नवीनता एवं व्यापकता के परिधान से आवेषिटत होकर काव्य-प्रेमियों के सम्मुख प्रस्तुत हुई । ग़ज़ल को कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से नये आयाम देने के लिए उक्त समालोचकों द्वारा निर्मित पथ पर अनेक अविगण अग्रसर हुए । जिनमें असग़र गोंडवी, फ़ानी बदायूँनी हसरत मोहानी, जिगर मुरादाबादी आदि प्रमुख हैं । वैसे इस काल के अन्तर्गत कुछ अन्य कवि भी आते हैं, जिनमें हफ़ीज़ जालन्धरी, जलील मानिकपुरी, साइल देहलवी बेखुद देहलवी, यगाना चेंग़ेजी, जिराग़ हसन, हरिश्चन्द्र अख़्तर, मख़मूर देहलवी, रामभरोसे लाल सेवक, क़रार, राज़ बरेलवी आदि प्रमुख हैं । डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी जोश मलिहाबादी, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ जैसे प्रगतिशील कवियों के योगदान की चर्चा इस काल के अन्तर्गत इसलिए नहीं की गई क्योंकि इन्होंने 1960 ई. के पश्चात भी कई दशकों तक उर्दू ग़ज़ल साहित्य को समृद्ध किया । उपर्युक्त कवियों ने मौलाना हाली एवं आज़ाद से प्रेरणा लेकर उनके निर्देशों को किसी न किसी रूप में स्वीकारा है और इस प्रकार ग़ज़ल अपने परम्परागत स्वरूप से मुक्त होकर सामाजिक जन-जीवन एवं सर्वहारा की समस्याओं से जुड़ गई । कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से जनसाधारण के समीप पहुँचकर वह एक लोकप्रिय विधा बन सकी, जिसका परवर्तियों ने भी पालन-पोषण किया । वस्तुतः यह युग उर्दू ग़ज़ल का स्वर्ण युग कहा जाएगा।

अत्याधुनिक काल (साठोत्तरी उर्दू एवं हिन्दुस्तानी ग़ज़ल) :

अत्याधुनिक काल के अन्तर्गत हम उर्दू की साठोत्तरी ग़ज़ल की प्रकृति एवं स्वरूप के साथ-साथ उसकी विकास-यात्रा पर विचार करेंगे । 1960 ई. के पूर्व की उर्दू ग़ज़ल में वर्ण्य विषय एवं शिल्प की दृष्टि से नवीनता के जो चिह्न मिलने लगे थे वे साठोत्तरी काल में और अधिक पुष्ट एवं परिपक्व

हुए। उर्दू ग़ज़ल परम्परागत लीक से हटकर जन-जीवन से जुड़ने लगी । इसी समय उर्दू ग़ज़ल के समानान्तर हिन्दी ग़ज़ल भी लोकप्रियता की ओर अग्रसर हुई । उर्दू लिपि से अनभिज्ञ हिन्दी पाठकों की रुचि भी उर्दू के पठन-पाठन की ओर बढ़ी, जिसके परिणामस्वरूप उर्दू के महान कवियों की ग़ज़लों के दीवान देवनागरी लिपि में प्रकाशित होने लगे । हिन्दी की पत्रिकाओं में भी ग़ज़लों का प्रकाशन आरम्भ हुआ । इन ग़ज़लों की भाषा अत्यन्त सरल एवं हिन्दी पाठकों द्वारा ग्राह्य थी । दूसरे शब्दों में उनकी भाषा सरल उर्दू-हिन्दी मिश्रित हिन्दुस्तानी भाषा थी । इसी कारण इन ग़ज़लों को हिन्दुस्तानी ग़ज़ल भी कहा जा सकता है । हिन्दी ग़ज़लकारों ने भी अपनी ग़ज़लों में उर्दू के सरलतम स्वरूप को देवनागरी में स्वीकार किया। इस समय की हिन्दी ग़ज़लों में नये प्रतीकों एवं बिम्बों के माध्यम से सर्वहारा की पीड़ा का यथार्थ चित्रण किया गया । इन ग़ज़लों में अभिव्यक्ति की तीव्रता एवं प्रभावोत्पादकता से आज के उर्दू कवि भी अछूते न रहे और उन्होंने हिन्दी कवियों से कुछ सीख कर उर्दू में जनमानस की पीड़ा को अपनी ग़ज़लों के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की । उर्दू में इस प्रकार की ग़ज़लें जदीद ग़ज़ल के नाम से विख्यात हुई । इस प्रकार साठोत्तरी काल की उर्दू-ग़ज़ल अपने परम्परागत स्वरूप के साथ-साथ सर्वहारा वर्ग की भावभूमि पर उतरकर एक नयी दिशा में मुड़ चली । इन ग़ज़लों की भाषा सरल, प्रवाहपूर्ण तथा सर्वग्राह्य है । बह्रों के पालन करने में भी कविगण पुरातनता के व्यामोह को त्याग कर नयी लीक पर चलने लगे ।

आधुनिक काल के कई प्रमुख उर्दू कवियों ने साठोत्तरी उर्दू ग़ज़ल को सजाने-सँवारने और उसे नये तेवर प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है । इन कवियों में जोश मलिहाबादी, फ़िराक़ गोरखपुरी, फ़ैज

अहमद फ़ैज आदि प्रमुख हैं । इन्होंने उर्दू ग़ज़ल का जो मार्ग प्रशस्त किया उस पर आज भी इनके शिष्य एवं अनुयायी चलकर ग़ज़ल परम्परा को समृद्ध बना रहे हैं । इसीलिए उक्त कवित्रयी का विस्तृत उल्लेख आधुनिक काल में न करके अत्याधुनिक काल में करना समीचीन समझता हूँ । साठोत्तरी उर्दू ग़ज़ल के दिशावाहक के रूप में उनका योगदान अमूल्य है ।

अब हम इन कवियों के साथ-साथ अत्याधुनिक काल के अन्य उर्दू ग़ज़लकारों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का लेखा-जोखा प्रस्तुत करेंगे ।

जोश मलिहाबादी :

इनका जन्म 1894 ई. में उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ के महिलाहाबाद नामक क़स्बे में एक जागीरदार घराने में हुआ । इनका पूरा नाम शब्बीर हसन खाँ था । साहित्य-सृजन एवं स्वाभिमान इन्हें विरासत में मिला । प्रगतिवादी होने के कारण इन्होंने इक़बाल की परम्परा का प्रवर्तन भी किया । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात यह 'आजकल' के सम्पादक हो गए। लगभग साठ वर्ष की अवस्था में इन्होंने पाकिस्तान जाकर वहाँ की नागरिकता ग्रहण कर ली और वही 22 फरवरी, 1985 को इनकी मृत्यु हो गई ।

इनकी रचनाओं में निहित क्रान्ति की उद्‌भावना रोमांसवाद पर ही आधारित है । इनकी रचनाएँ अपने देश, जाति, सभ्यता एवं संस्कृति को सच्चे अर्थों में रूपायित करती हैं । इसीलिए इनके साहित्य से प्रभावित होकर भारत सरकार ने इन्हें पद्मविभूषण की उपाधि से सम्मानित किया था। इनकी ग़ज़लों में रोमांस के साथ-साथ प्रगतिवाद के चिह्न भी दृष्टिगोचर होते हैं । इनमें उल्लास और मस्ती अनुभूति की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई प्रतीत होती है । इनकी भाषा फ़ारसीमय होते हुए भी प्रवाहपूर्ण है ।

'सैफ़ोसुब', 'नक्शोनिगर', 'हर्फ़ोहिकायत' आदि इनके प्रसिद्ध काव्य-संग्रहों में ग़ज़लें भी संगृहीत हैं । इनकी प्रसिद्ध ग़ज़ल के कतिपय शेर यहाँ प्रस्तुत हैं–

'क़दम इन्सां का राहे-दहू में थर्रा ही जाता है ।
चले कितना ही कोई बचके ठोकर खा ही जाता है ।।
हवाएँ ज़ोर कितना ही लगायें आँधियाँ बनकर,
मगर जो घिर के आता है तो बादल छा ही जाता है ।।
समझती है मआले-गुल, मगर क्या ज़ोरे-फ़ितरत है,
सहर होते ही कलियों को तबस्सुम आ ही जाती है ।।'[172]

फ़िराक़ गोरखपुरी :

इनका जन्म उत्तर प्रदेश के गोरखपुर नगर में 1896 ई. में हुआ था । इनका पूरा नाम रघुपति सहाय था । अध्ययनोपरान्त इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में 1930 ई. से 1958 ई. तक अंग्रेजी प्राध्यापक के रूप में कार्य किया । तत्पश्चात यह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को शोध प्राध्यापक भी रहे । इनकी साहित्यिक उपलब्धियों के लिए इन्हें 1968 ई. में पद्मभूषण की उपाधि से विभूषित किया गया । इनकी प्राकशित कृतियों में 'गुलेनरमा' प्रमुख है, जिसका देवनागरी संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है । इनकी मृत्यु 3 मार्च, 1982 को हुई ।

इन्होंने अपनी ग़ज़लों के माध्यम से न केवल समकालीन कवियों को प्रभावित किया अपितु परवर्तियों के लिए एक अनुकरणीय परम्परा का प्रवर्तन भी किया । 'गुलेनरमा' की अमर ग़ज़लों में गहन मानवीय संवेदना की अनुभूति के दर्शन होते हैं । इनकी ग़ज़लें भारतीय दर्शन एवं संस्कृति से ओतप्रोत हैं । इनकी ग़ज़लों की भावभूमि केवल सुरा एवं सुन्दरी के वियोग

पर ही आधारित नहीं है अपितु इनमें सामाजिक विषमताओं तथा सर्वहारा की ज्वलन्त समस्याओं का यथार्थ स्वर भी मुखरित होता है । इन्होंने प्रेम को मात्र शारीरिक तृप्ति का पर्याय न मानकर उसे मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक चश्मे से भी भली भाँति देखा है । इनकी ग़ज़लों में प्रेम को सम्पूर्ण जीवन के परिप्रेक्ष्य में उद्घाटित किया है । यही कारण है कि इनके शेर जीवन और प्रेम के संदर्भों का सच्चा मूल्यांकन प्रस्तुत करते हैं । फ़िराक के आशिक़ और माशूक़ मन और बुद्धि में सामंजस्य स्थापित करके प्रेम के पथ पर अग्रसर होते हैं । इसीलिए इनका प्रेम वर्षा की अल्हड़ नदी के समान न होकर शीत की शान्त नदी के समान है । इनके शेरों का भावपक्ष विशिष्टता से सामान्यता की ओर ले जाता है ।

इनकी ग़ज़लों की भाषा, सरल किन्तु चमत्कारिक और संगीतात्मक है। इसमें अर्थगाम्भीर्य को समाहित कर लेने की अद्भुत क्षमता है । मुहावरों के प्रयोग ने ग़ज़लों के सौंदर्य में चार-चाँद लगा दिए हैं । इनकी ग़ज़लों में शेरों की संख्या पर कोई प्रतिबिम्ब नहीं है । इन्होंने काफ़ी लम्बी-लम्बी ग़ज़लें भी कही हैं । इनकी ग़ज़लों की अपनी एक विशेष गरिमा है । जिससे प्रभावित होकर अनेक शिष्यों ने साठोत्तरी ग़ज़ल के क्षेत्र में अपना स्थान सुनिश्चित किया । फ़िराक साहब की ग़ज़ल के कतिपय शेर उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं –

'बहुत पहले से उन क़दमों की आहट जान लेते हैं ।
तुझे ऐ जिन्दगी हम दूर से पहचान लेते हैं ।।
तबीयत अपनी घबराती है जब सुनसान रातों में,
हम ऐसे में तेरी यादों की चादर तान लेते हैं ।।

तुझे घाटा न होने देंगे कारोबारे उल्फ़त में,
हम अपने सर तेरा ऐ दोस्त हर नुक़्सान लेते हैं ।।
'फ़िराक़' अक्सर बदलकर भेस मिलता है कोई काफ़िर –
कभी हम जाने लेते हैं, कभी पहचान लेते हैं ।।'[173]

फैज़ अहमद फ़ैज :

इनका जन्म पाकिस्तान स्थित सियालकोट में 1911 ई. में हुआ था । इन्होंने अंग्रेज़ी तथा अरबी में एम.ए. की उपाधियाँ प्राप्त कीं । फिर इन्होंने एम.ए.ओ. कालेज अमृतसर में 1934 से 1940 ई. तथा हेली कॉलेज लाहौर मैं 1940 से 1942 तक प्राध्यापक के रूप में कार्य किया । तत्पश्चात यह फ़ौज़ में कर्नल रहे । पत्रकारिता का कार्य भी इन्होंने किया । बाद में इन्हें रावलपिंडी कांसपिरेसी केस में जेल भी जाना पड़ा । इनकी प्रकाशित कृतियों में 'नक़्शे फ़रियादी', 'दस्तेसबा', 'दस्ते-तहेसंग' तथा 'सरे वादी-ए-सेना' प्रमुक हैं । इनकी ग़ज़लों एवं नज्मों में प्रगतिवाद एवं रोमांसवाद का समन्वित रूप दृष्टिगोचर होता है । इन्होंने अपनी ग़ज़लों के माध्यम से व्यक्तिगत दुखों को सामाजिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करके यथार्थ एवं रोमांस की गंगा-यमुना धारा प्रवाहित की । इनके हृदय के अवरुद्ध प्रवाह के उद्वेलित हो उठने के कारण इनकी ग़ज़लों में अनुभूति की तीव्रता चरम सीमा पर पहुँचकर पाठकों से तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ हो सकी है । इनकी ग़ज़लों की भाषा सरल, प्रवाहपूर्ण तथा शब्द-विन्यास प्रशंसनीय है । नये संदर्भों को पुरानी शैली में तथा पुराने संदर्भों को नयी शैली में प्रस्तुत करना इनकी अपनी विशेषता है । नयी उपमाओं के प्रयोग में यह सिद्धहस्त है । इन्होंने अपनी ग़ज़लों के शिल्प द्वारा अभिव्यंजना के नवीन आयामों का

उद्घाटन किया है । यही कारण है कि परवर्ती उर्दू कवि किसी न किसी रूप में इनसे प्रभावित हुए हैं । इनकी ग़ज़ल के कुछ शेर उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत हैं –

'वही है दिल के कराइन तमाम कहते हैं ।
वो इक ख़लिश कि जिसे तेरा नाम कहते हैं ।।
पियो कि मुफ़्त लगा दी है ख़ूने-दिल की कशीद –
गिरां है अब के मय-ए-लालफ़ाम कहते हैं ।।
फ़कीए शहर से मय का जवाब क्या पूछे
कि चाँदनी को भी हज़रत हराम कहते हैं ।।
नवा-ए-मुर्ग़ को कहते हैं अब जियाने चमन
लिखें न फूल, इसे इन्तिज़ाम कहते हैं ।।

ज़ज़्बी :

इनका जन्म 21 अगस्त, 1912 ई. को उत्तर प्रदेश के आज़मगढ़ ज़िले में मुबारिकपुर नामकत स्थान पर एक साहित्यिक परिवार में हुआ । इनका पूरा नाम मुइन अहसन था । यह नौ वर्ष की अवस्था से ही कविता करने लगे थे । शिक्षा समाप्त कर यह अलीगढ़ विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हो गये। इनका एक काव्य-संग्रह 'फ़रोज़ां' के नाम से प्रकाशित हुआ । पारिवारिक एवं आर्थिक विडम्बनाओं ने इन्हें करुणा का कवि बना दिया । इसी कारण इनकी करुणापरक ग़ज़लें अत्यधिक लोकप्रिय हुई । इन ग़ज़लों में निहित कवि की पीड़ा संसार की पीड़ा में परिवर्तित होती जान पड़ती है ।

यहाँ पर उदाहरणस्वरूप उनकी एक प्रचलित ग़ज़ल के कतिपय शेर प्रस्तुत हैं –

'मरने की दुआएँ क्यों माँगूँ, जीने की तमन्न कौन करे ।
ये दुनिया हो या वो दुनिया, अब ख़्वाहिशे दुनिया कौन करे ।
जो आग लगाई थी तुमने, उसको तो बुझाया अश्कों ने,
जो अश्कों ने भड़काई है, उस आग को ठंडा कौन करे ।।
दुनिया ने हमें छोड़ा 'जज़्वी', हम छोड़ न दें क्यों दुनिया को,
दुनिया को समझकर बैठे हैं, अब दुनिया दुनिया कौन करें ।'[174]

ताबाँ :

इनका जन्म 15 फरवरी, 1914 ई. को उत्तर प्रदेश के फ़र्रुख़ाबाद ज़िले के कायमगंज नामक स्थान पर हुआ । इनका पूरा नाम गुलाम रब्बानी था । इन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से बी.ए. एल-एल.बी. की उपाधि प्राप्त की। कुछ समय तक वकालत करने के उपरान्त इन्होंने मकतब-ए-जामिया लिमिटेड दिल्ली में सेवा आरम्भ की, जहाँ से 1970 ई. में जनरल मैनेजर के पद से अवकाश ग्रहण किया । इन्होंने 1953 ई. से ग़ज़ल कहना आरम्भ किया । अब तक इनकी ग़ज़लों के तीन संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनके नाम हैं - 'हदीस-ए-दिल', 'ज़ौक़-ए-सफ़र' और 'नवाए-आवारा ।' उर्दू में ग़ज़लों की बढ़ती हुई लोक प्रियता के कारण इनके तीन संग्रह देवनागरी लिपि में भी प्रकाशित किए गए । यह हैं - 'शेर-ओ-शायरी', 'दिल की आवाज़', 'नवा-ए-आवारा' । इनकी साहित्य-सेवा के लिए 1971 ई. में इन्हें पद्मश्री की उपाधि से विभूषित किया गया जिसे इन्होंने 1978 ई. में जनता

शासन की साम्प्रदायिक दंगों के प्रति उदासीनता की नीति से क्षुब्ध होकर वापस कर दिया ।

यद्यपि यह मार्क्सवादी प्रगतिशील कवि हैं, फिर भी इनकी ग़ज़लों में संगीतात्मकता, कोमलता एवं भाषा की सरलता स्पष्ट परिलक्षित होती है । इनकी एक ग़ज़ल के कतिपय शेर आस्वादनार्थ प्रस्तुत हैं –

'जुर्मे-एहसास की फ़ितरत ने सज़ा दी है मुझे ।
होंठ जल जाते हैं जिससे वह नवा दी है मुझे ।।
मैं तो समझा था कि सब टूट चुके हैं नाते –
मेरे माजी ने कई बार सदा दी है मुझे ।।
नाउम्मीरदी से झलकता रहे उम्मीद का रँग,
कौन था जिसने यह दिलचस्प सज़ा दी है मुझे ।।
तन छुपाने के लिए और तो क्या था 'ताबाँ'
मेरे माहौल ने ज़ख़्मों की क़बा दी है मुझे ।।'[175]

अमीक हनफ़ी :

इनका जन्म 3 नवम्बर, 1929 ई. में मध्य प्रदेश के महू छावनी नामक स्थान पर हुआ । इन्होंने राजनीति विज्ञान तथा इतिहास में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की । 18 दिसम्बर, 1956 ई. से यह आकाशवाणी के भोपाल, दिल्ली, इन्दौर, अम्बिकापुर, लखनऊ आदि केन्द्रों पर हिन्दी स्क्रिप्ट राइटर से लेकर केन्द्र-निदेशक तक वे पदों कार्य करते आ रहे हैं । इन्होंने 1952 से नियमित ग़ज़ल आरम्भ किया । इनकी प्रकाशित कृतियों में 'संग पैरहन', 'शबगस्त', 'सजरे-सदा' आदि प्रमुख हैं । इन्हें उर्दू और हिन्दी दोनों

भाषाओं में ग़ज़लें कहने का समान अधिकार प्राप्त है । इनकी उर्दू ग़ज़लों में प्रेम एवं सौन्दर्य के साथ-साथ दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति भी मिलती है। इनकी ग़ज़लों में व्यक्तिवादी स्वर मुखरित हुए हैं । ग़ज़लों में उर्दू के के कठिन शब्दों का प्रयोग कम किया गया है । इनकी एक दार्शनिक ग़ज़ल के कतिपय शेर प्रस्तुत किये जाते हैं । इनमें आत्मा के विषय में सूफ़ी भावनाओं को कतिपय शेर प्रस्तुत किये जाते हैं । इनमें आत्मा के विषय में सूफ़ी भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है –

'है नूरे ख़ुदा भी यहाँ इरफ़ाने ख़ुदा भी ।
ये ज़ात है कि वादिए सीना भी हिरा भी ।।
करती है कमरबस्ता सफ़र पर भी यही ज़ात,
जब दूर निकल जाता हूँ देती है सदा भी ।।
होता है शबोरोज़ तमाशा सरे अहसास,
जो देखती रहती है, मेरी आँख दिशा भी ।।'[176]

डॉ. बशीर बद्र :

इनको गणना साठोत्तरी उर्दू ग़ज़लकारों में प्रमुखता से की जाती है इन्होंने फ़िराक़ गोरखपुरी के शिष्य बनकर उनकी परम्परा का प्रवर्तन एवं संवर्द्धन किया । इसीलिए इनकी ग़ज़लों पर फ़िराक़ साहब की ग़ज़लों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है । इनक़ी ग़ज़लों में प्रेम के व्यापक स्वरूप एवं बदलते हुए परिवेश की यथार्थ अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं । नयी उपमाओं, प्रतीकों एवं बिम्बों के प्रयोग की दृष्टि से इनकी ग़ज़लें कला पक्ष के चरम बिन्दु को स्पर्श करती हैं । इनकी भाषा सरल उर्दू-हिन्दी मिश्रित

है। यही कारण है कि इनकी ग़ज़लें एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में लोकप्रिय होती जा रही हैं । यहाँ इनकी एक ग़ज़ल के चन्द शेर प्रस्तुत हैं –

'सितारों ने पलकों से क्या बात की ।
सवारी गुज़रने लगी रात की ।।
मुक़द्दर मेरा चश्मेपुर आपका,
बरसती हुई रात बरसात की ।।
मैं चुप था तो चलती हुई रुक गई,
जुबाँ सब समझते हैं जज़्बत की ।।'[177]

माया (राजेखन्ना) :

इनका जन्म जनवरी, 1946 ई. को उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में हुआ । आवश्यक शिक्षा-दीक्षा के अनन्तर इनका विवाह बरेली के एक शायर श्री कमल नियाज़ी से जनवरी 1961 ई. में हुआ । इन्होंने बाल्यवस्था से ही ग़ज़ल के क्षेत्र में अभ्यास आरम्भ कर दिया । इनके ग़ज़ल के प्रकाशित दीवान 'सुलगते फूल ढलकते आँसू' तथा ख़ुलूसे बेकरां' के नाम से विख्यात हैं । इनकी ग़ज़लों में विप्रलम्भ श्रृंगार के साथ-साथ सामाजिक यथार्थ के स्वर भी मुखरित होते हैं । इनकी भाषा सरल किन्तु प्रवाहपूर्ण है । इन्होंने कठिन एवं लम्बी-लम्बी रदीफ़ों में कतिपय में भी ग़ज़लें कहने में सफलता प्राप्त की है । कटु सामाजिक यथार्थ को अत्यन्त सफ़ाई एवं सादगी से अभिव्यक्त करना इनकी ग़ज़लों की अपनी विशेषता है । इसी संदर्भ में कतिपय शेर द्रष्टव्य हैं –

'इधर भी हैं बनावटें, उधर भी हैं बनावटें,

हवाए-रस्मे सादगी, न शहर में न गाँव में ।।

गुज़र रही है ज़िंदगी, घरों में जाग-जाग कर,

कहाँ है अम्नो-आशिक़ी, न शहर में न गाँव में ।।

न महफ़िलों में रौनक़ें, न पनघटों पे शोर है,

नज़र-नवाज़ दिलकशी, न शहर में न गाँव में ।।

ये पूर्णिमा की रात को, हुआ तो 'राजे' क्या हुआ,

बिखर रही है चाँदनी, न शहर में न गाँव में' ।।[178]

उर्दू-ग़ज़ल के अत्याधुनिक काल के अन्तर्गत इन कवियों के अतिरिक्त भी अनेकानेक ग़ज़ल –शिल्पियों के नाम उल्लेख्य हैं । आज सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज में कवि कर्म एक व्यसन बनता जा रहा है । अतः आज जबकि हर तीसरा व्यक्ति कवि हैं, इनकी सूची का सुदीर्घ होना स्वाभाविक है और इसमें सम्मिलित समस्त कवियों की नाम-गणना कर पाना सम्भव नहीं है । फिर भी साठोत्तरी उर्दू ग़ज़ल के मन्दिर को गढ़ने वाले अन्य शिल्पियों में डॉ. सागर आज़मी, सागर निज़ामी, आनन्दनारायण मुल्ला, ख़ुमार बारबंकवी, फ़ना कानपुरी, साक़िब कानपुरी, जहीर ग़ज़ीपुरी, रिफ़अत सरोश, मंज़र सलीम, नज़र सीतापुरी, सलाम मछलीशहरी, सलाम सन्दीलवी, नाज़िश प्रतापगढ़ी, नूर लखनवी, जाफ़र मलिहाबादी, जगन्नाथ आज़ाद, माहिर विलग्रामी, डॉ. शैलेश ज़ैदी, प्रभातशंकर चौधरी, इब्नेइंशा, क़ौसर साहिरी, रघुनाथ सहाय वफ़ा, आज़ाद उम्रवी, तबस्सुम अलीपुरी प्रो.ज़का पीलीभीती, राज़ इलाहाबीद, महेचन्द्र नक़्श, शमीम जयपुरी, निश्तर ख़ानकाही, मुशीर झिझानवी आदि प्रमुख हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साठोत्तर उर्दू ग़ज़ल के भाव पक्ष के क्षेत्र में पूर्व परम्परा का अनुसरण करने के साथ-साथ आधुनिक संदर्भों को भी अपनाकर नयी भावभूमि एवं नये तेवर खोज निकाले हैं । अत्याधुनिक उर्दू ग़ज़ल की सबसे बड़ी विशेषता भाषा की सरलता है । आधुनिक उर्दू कवियों ने कठिन शब्दावली का व्यामोह त्यागकर सरल उर्दू शब्दों के साथ व्यापक रूप से हिन्दी शब्दों को अपनाकर एक नये भाषा संसार के माध्यम से अपनी ग़ज़लों को सर्वसाधारण के लिए ग्राह्य बना दिया । परवर्ती काल में भी भाव, शिल्प एवं शैली की दृष्टि से उर्दू ग़ज़ल लोकप्रियता के चरमोत्कर्ष की ओर अग्रसर होती रहेगी । उर्दू ग़ज़ल की सम्भावनाएँ अनन्त और उज्ज्वल हैं ।

शमशेर बहादुर सिंह :

हिन्दी ग़ज़ल की विकास-प्रक्रिया में शमशेर बहादुर सिंह का नाम अपना एक ऐतिहासिक महत्व रखता है । शमशेर की ग़ज़लों में जहाँ एक ओर ग़ज़लों की क्लासिकी समझ मौजूद है, वहीं इनमें नये युग और नई जीवन-संवेदनाओं की दस्तक भी सुनी जा सकती है । ये ग़ज़लें ऊपर से जितनी मीठी और कोमल लगती है, भीतर से उतनी ही गहरी और जटिल मनोरचना वाली है । इनमें भीतर तक प्रवेश करना किसी जोखिम से कम नहीं है क्योंकि मुक्तिबोध के निम्नांकित विचार शमशेर की ग़ज़लों पर भी उतने ही लागू होते हैं, जितने उनकी दूसरी कविताओं पर, "शमशेर एक समर्पित कवि हैं । उन्होंने अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग और प्रदीर्घ काव्यक्षण काव्यसाधना में बिताए हैं – निःस्वार्थ भाव से, यशःप्रार्थी न होकर । शमशेर की आत्मा ने अपनी अभिव्यक्ति का एक प्रभावशाली भवन अपने

हाथों तैयार किया है । उस भवन में जाने से डर लगता है - उसकी गंभीर प्रयत्नसाध्य पवित्रता के कारण ।"[179]

शमशेर की ग़ज़लें किसी साधारण रचनाकार की ग़ज़लें नहीं हैं, बल्कि इसके सृजन के पीछे एक ऐसा सिद्ध कवि है जो संस्कृत, हिंदी, अंग्रेजी, ग्रीक, पोलिश, फ्रांसिसी के सार्थ उर्दू, फारसी, अरबी भाषा और साहित्य का विधिवत् ज्ञान रखता है । इसके चिंतन और भावनाओं का संगम जब ग़ज़लों का रूप लेता है तो वहाँ एक नया सौंदर्यशास्त्र उभर कर सामने आता है । वस्तु और शिल्प के द्वैत धरातल पर एक नयी आभा छिटक पड़ती है, जो सिर्फ उर्दू ग़ज़ल की विरासत नहीं रह जाती, बल्कि संपूर्ण हिंदी भाव-धारा का स्पंदन बन जाती है ।

शमशेर अपने पीछे की पूरी परंपरा को आत्मसात कर ग़ज़लों का ताना-बाना बुनते हैं । वह इनमें मीर की पीड़ा, ग़ालिब का अंदाजे-बयाँ, इकबाल की गम्भीरता, निराला की ध्वन्यात्मकता, हाली की प्रगतिशीलता, पंत की मार्मिकता और फ़िराक़ का शब्द-विन्यास घोलकर इन्हें एक नई रूप-रचना में ढालना चाहते थे, शमशेर स्वयं कहते हैं –

"नवाएं-असग़रो-इक़बाल पर फ़िदा था दिल
नया था दर्द मेरा शाइराना मस्ताना
सुना है मैंने निराला का सरमदी आहंग
कलामे पन्त अज़ब राहिस्ना मस्ताना"[180]

शमशेर जीवन के कोने-कोने से सौंदर्य और प्रेम की सुगंध खींच कर अपनी ग़ज़लों में भर दिया करते हैं । इसलिए प्रायः इनकी ग़ज़लें सौंदर्य और प्रेम की मादकता से पूर्ण होती है, लेकिन जीवन के राग से अछूती नहीं

होती । ये ग़ज़लें हृदय की कसमसाहट और गहरी भावात्मक हलचल का परिणाम हैं । इसलिए इनमें तरलता है, प्रवाह है, मर्मस्पर्शिता है । यानि, इनके भीतर जो आकर्षण है वह केवल ग़ज़लों की परंपरागत शब्दावलियों की कलाबाजी से नहीं है और न ही श्रृंगार और प्रेम के सतही अर्थों की उपज है । शमशेर जीवन की घनीभूत पीड़ा और दर्द को तब तक इकट्ठा करते और माँजते रहते हैं, जब तक उनके सारे ऋणात्मक प्रभाव नष्ट होकर उन्हें उजला और चमकदार नहीं बना देते और तब कहीं उनका प्रेम अस्तित्व पाता है । इसलिए इस प्रेम से फूटने वाला दर्द शमशेर को कभी 'शाइराना' लगता है तो कभी 'मस्ताना' लगता है, कभी 'आशिकाना' लगता है और कभी इतना प्रकाशवान लगने लगता है कि इसकी चमक में जीवन की सारी निराशाओं और कुंठाओं की अँधेरी रात में वह अपनी ही धुन में मस्त बड़ी बेफिक्री से चलते हुए अपनी राहें तलाश लिया करते हैं । शायर के दर्द में अगर इतनी चमक न आ सकी, तो रूह तक उतर कर, उसे जिन्दगी बक्शे तो शमशेर की नज़रों में वह इश्क और मुहब्बत की बातें बेकार हैं और ऐसी शायरी सिर्फ एक मज़ाक है । खुद शमशेर की भाषा में कहें तो -

"इश्क की शाइरी है खाक, हुस्न का जिक्र है मज़ाक
दर्द में गर चमक नहीं, रूह में गर ज़िला नहीं ।"[181]

शमशेर की लिए प्रेम जीवन से इतर कोई वस्तु नहीं है, बल्कि यह तो सत्य का प्रतीक है जो जीवन को प्रकाशित करता रहता है । निजी और सामान्य प्रेम-परसंगों को भी वह उदात्त कल्पनाओं के पंख देकर मुक्त आकाश में विचरण के लिए छोड़ देते हैं, जो बहुत बार रहस्यात्मक प्रभावों से भर जाता है और तब उसका स्पंदन और उसकी गूँज सृष्टि के कोने-कोने से सुनी जाने लगती है, द्वैत-अद्वैत के सारे भेद मिट जाते हैं । ये वह आईना

बन जाता है, जिसमें सारे आलम का चेहरा दिखाई देने लगता है, यानी इनके यहाँ अलौकिकता भी लौकिकता से परे नहीं होती । शमशेर के निम्नांकित शेर इस सत्य साक्षी हैं –

"इश्क की मजबूरियाँ है, हुस्न की बेचारगी :

रूए आलम देखिएगा ? आईना देता हूँ मैं"[182]

"मह्व है कायनात कुल मह्व है उसकी ज़ात कुल

कौन किसे ख़बर करे किसका निज़ाम हो चुका "[183]

प्रेम की यह विराट चेतना शमशेर को सत्य के साक्षात्कार को सत्य के साक्षात्कार के लिए बार-बार प्रेरित करती है, लेकिन यह सत्यान्वेषण किसी विशेष समय या विशेष परिस्थिति तक सामित रखकर शमशेर को स्वीकार नहीं । वह इस सत्य से जीवन के हर क्षण और हर कोने को प्रदीप्त करना चाहते हैं । तात्पर्य यह है कि जीवन से 'पृथक' होकर सत्य का अन्वेषण करने का अर्थ 'नबीना' (अंधा) हो जाना ही है, क्योंकि तब मनुष्य के पास वह सामर्थ्य नहीं रह जाता कि वह उस 'जल्वे का दीदार' कर सके या सत्य का साक्षात्कार कर सके । शमशेर का यह शेर द्रष्टव्य है –

"वो जल्वे लोटते फिरते हैं, ख़को-खूने-इंसाँ में

तुम्हारा तूर पर जाना, मगर नाबीना होता है ।"[184]

उपर्युक्त शेर में कुछ उलझी सी संवेदना के चलते शलभ श्रीराम सिंह जैसे कवि भी भ्रम के शिकार हो गए हैं और इस भ्रम को शमशेर की चूक समझ बैठे हैं । शेर की दूसरी पंक्ति के विषय में शलभ कहते हैं, "उन्होंने (शमशेर ने) सीधे-सीधे स्वीकार किया है कि सत्य का साक्षात्कार करने का

मतलब है – दृष्टिविहीन हो जाना ? सवाल उठता है कि क्या कोहेतूर पर पहुँच कर मूसा अंधे हो गए थे ?"[185]

शलभ ने इक़बाल के एक शेर से शमशेर के इस शेर की तुलना कर संवेदना के अधोमुखी रूप को इंगित करने का प्रयास किया है, पर वास्तविकता यह है कि इक़बाल की चेतना के कुछ प्रभाव के अतिरिक्त शमशेर के शेर से उसका कोई तारतम्य नहीं बैठता । यानी शलभ ने इक़बाल और शमशेर के जिन दो शेरों को एक साथ रखकर विश्लेषित करने का प्रयास किया है, वह संवेदनात्मक स्तर पर कहीं से साम्य नहीं रखते और अगर कोई साम्य दिखता भी है तो वह सत्यान्वेषण की विराट चेतना के रूप में दोनों में अपने-अपने ढंग से दौड़ती हुई दिखाई देती है । यहाँ शलभ द्वारा प्रस्तुत इक़बाल के उस शेर पर दृष्टिपात आवश्यक हो जाता है –

"हक़ीक़त एक है हर शै की ख़ाकी हो कि नूरी हो
लहू खुर्शीद का टपके अगर ज़र्रे का दिल चीरें ।[186]"

यदि शमशेर के शेर को विश्लेषित करने के लिए किसी से संवेदनात्मक धरातल पर साम्य खोजा जा सकता है तो वह सौदा का निम्नांकित शेर है –

"हर संगम में शरार है तेरे ज़हर का
मूहा नहीं जो सैर करूँ कोहेतूर का (सौदा)"

शमशेर का तात्पर्य केवल इतना है कि मूसा की तरह कोहेतूर पर जाकर विराट सत्य के साक्षात्कार की इच्छा नहीं है, क्योंकि उन्हें वह जल्वा 'खोको-खूने-इंसाँ' यानी जीवन और जगत के कण-कण में दिखाई देता है ।

इस सृष्टि और इस जगत् से अलग होकर मूसा ने अगर उस जल्वे को देखना भी चाहा तो उनकी आँखें उसे बरदाश्त नहीं कर सकीं । इसलिए शमशेर उस विराट सत्य को किसी एक स्थान पर केंद्रित करने के बजाय उसके व्यापक रूप में अपनी पहचान खोजना चाहते हैं । शमशेर प्रेम और सौंदर्य के मायने आँखें बंद कर खोजने वालों में से नहीं, बल्कि वह तो खुली आँखों से जीवन-सौंदर्य का विश्लेषण करते चलते हैं । वह जानते हैं कि मनुष्य से मनुष्य को जोड़ने वाला एक मात्र आधार प्रेम ही है । ऐसे प्रेम को व्याख्यायित करने की अपने कवि की सार्थकता समझते हैं । शमसेर कहते हैं –

"और तो कुछ न किया इश्क में पड़कर दिल ने
एक इंसान से इंसान वफ़ा का बाँधा ।"[187]

शमशेर यथार्थ की परतें उधेड़ कर उसके भीतर तक प्रविष्ट हो जाते हैं, और जब तक इस यथार्थ को अपनी रचना की अन्तश्चेतना में शामिल नहीं कर लेते, संतुष्ट नहीं होते हैं । यही कारण है कि उनके यहाँ यथार्थ की प्रसंगबद्धता और उसके तात्कालिक प्रभाव धूमिल से प्रतीत होते हैं और कई बार तो उनकी पहचान भी कठिन हो जाती है । वास्तव में शमशेर की शायरी एहसास की शायरी है, इसलिए इसका सारा प्रयास उस एहसास को जीवंत बनाए रखने का होता है । अपनी इसी प्रवृत्ति के चलते इनकी रचनाएँ समय और काल का अतिक्रम करने में समर्थ हो पाती हैं । ग़ज़ल के शेरों की एक बड़ी ख़ूबी उसकी बहुअर्थता और बहुआयामी विस्तार है और शमशेर का यथार्थ-बोध, उनकी ग़ज़लों की आत्मा का अंश हो जाने के नाते चतुर्दिक प्रवाह प्राप्त कर लेता है । इससे अनेकबार उनके शेर प्रसंग विशेष से

सम्बद्ध होकर भी जीवन के बहुविध पक्षों का एक साथ स्पर्श कर लेते हैं। बानगी के तौर पर इस शेर को देखा जा सकता है –

"खामोशिए - दुआ हूँ, मुझे कुछ ख़बर नहीं,
जाती हैं क्या सदाएँ तेरे आस्ताएँ के पार।"[188]

शेर गाँधी-दर्शन के प्रभाव से अनुप्राणित हैं, लेकिन शमशेर ने इसकी बाह्य संरचना पूरी तरह ग़ज़ल के पारम्परिक लहज़े में सजाई है। ऊपर से देखने पर शमशेर की ग़ज़लों को लेकर यह भ्रम हो सकता है कि वह उर्दू ग़ज़ल की 'प्रेमिका से संवाद' वाली परिपाटी से बाहर नहीं निकल पाए हैं, जबकि सच यह है कि शमशेर की ग़ज़लों के भीतर व्यापक सोच और गहरी दार्शनिकता छिपी है, जिसकी पड़ताल अब भी शेष है।

शमशेर को अंतर्विरोधों का कवि भी कहा जाता है, क्योंकि इनकी शायरी जीवन के द्वंद्वों और अन्तर्विरोधों से ऊर्जा ग्रहण करती है, इसलिए कभी वह प्रगतिशील दिखाई देते हैं तो कभी प्रयोगशील, कभी सौंदर्य प्रेमी तो कभी यथार्थन्वेषक, कभी बहुत सहज और कभी अत्यन्त दुरूह। वे क्या हैं और क्या होना चाहते हैं, इसके बीच एक कशमोकश हर वक़्त उनके यहाँ देखी जा सकती है –

"चुपके से कहता है, शाइर नहीं हूँ मैं
क्यों अस्ल में हूँ वो जो बज़ाहिर नहीं हूँ मैं
भटका हुआ-सा फिरता है दिल किस ख़याल में
क्या जादए - वफ़ा का मुसाफिर नहीं हूँ मैं"[189]

अगर शायर खुद को 'वफ़ा की राह का मुसाफिर' मानता है तो ये उलझन और भटकाव क्यों ? दरअसल होने और न होने के बीच की यह

उलझन ही रचनात्मकता का पथ प्रशस्त करती है और रचनाकार के मन की तिलिस्मी गुफ़ाओं तक प्रवेश कराती है ।

यह कहना शमशेर के साथ अन्याय करना होगा कि उन्होंने अपनी ग़ज़लों में यथार्थ के केवल सुन्दर और रंगीन चित्रों को ही उकेरा है । सत्य तो यह है कि न तो शमशेर ने बहुत अधिक ग़ज़लें कही हैं और न ही खुद को कभी ग़ज़लकार के रूप में प्रतिष्ठित करने की कोशिश की है, लेकिन उन्होंने जो भी कहा है पूरी ईमानदारी से कहा है, अपने समय और अपने लोगों से पूरी वफ़ादारी के साथ कहा है ।

इसलिए यहाँ फ़ौज़ और निराला दोनों के स्वर एक साथ कुनाई देते हैं, शमशेर समय के साथ चलना जानते हैं । वह जानते हैं कि आज प्रेम का अर्थ छिछला और सतही हो चुका है । इश्क़ अपना हक़ीक़ी माने खो चुका है। ऐसे में इश्क़ और मुहब्बत की बातें समझने वाला कोई नहीं है और ये विषय राह दिखाने के बजाय समाज को भटका सकते हैं । वस्तुतः जिस दौर में देश को आज़ादी और इंकलाब की ज़रूरत हो, उस दौर में शमशेर जैसा सजग रचनाकार सतही प्यार के तराने गाकर संतुष्ट कैसे रह सकता है, इसलिए उसे भी फ़ैज़ की तरह कहना पड़ता है –

"दिल जिनमें ढूँढ़ता था कभी अपनी दास्ताँ
वो सुर्खियाँ कहाँ है मुहब्बत के बाब में
ऐ दिलनेवाज पहलू ही जब दिलके और हों
क्या खिलवतों में लुत्फ धरा क्या हीजाब में"[190]

शमशेर देख रहे थे कि जीवन के दूसरे मसले इतने उलझ रहे हैं कि यदि तुरंत उनकी ओर ध्यान न दिया गया तो वे राष्ट्र और समाज दोनों के

लिए घातक बन जाएँगे और अगर ध्यान ही कहीं और हो तो भला क्या 'खिलवतें' और 'हिज़ाब' । यानी रचनाकार अपने सामाजिक सरोकारों के प्रति त्वरित गति से तत्पर हो उठता है । इस दौर में शमशेर के सामने एक लहूलुहान मंजर है, एक भयानक यथार्थ है, जिसका सामना करने के लिए शमशेर खुद को और अपने लोगों को तैयार करना चाहते हैं । इसलिए कहते हैं –

"अलट गए सारे पैमाने, कासागरी क्यों बाक़ी है ?

देस के देस उजाड़ हुए, दिल की नगरी क्यों बाक़ी है ?"[191]

स्पष्ट है कि शमशेर की ग़ज़लें जीवन-संघर्ष में कहीं से पीछे नहीं हटतीं लेकिन खुद को नारे और बयानबाज़ी बनने से बचा ले जाती हैं । ये ग़ज़लें अपने दौर की हर एक करवट, हर एक हलचल के रूबरू हैं । चाहे सांप्रदायिक दंगे हों या राजनीतिक मक्कारियाँ, बाज़ारवादी मासिकता हो या आज़ादी और लोकतंत्र के सवाल, तन्हा मन की पीड़ा हो या प्रियतम की प्रतीक्षा, की उपेक्षाओं से टकराते शायर का दर्द हो या प्रकृति का कोमल स्पर्श, सब कुछ यहां मौजूद है ।

शमशेर देख सकते थे कि पश्चिम से चली उपभोक्तावादी और बाजारवादी आंधियाँ नयी पीढ़ी और उसके भविष्य को अपने साथ बहा ले जा रही हैं । ये बाजारवादी मानसिकता का दीमक हमारे मूल्यों और संस्कारों की दीवार को पोपला कर रहा है लेकिन इसका विरोध सीधे करने के बजाय शमशेर को अपना व्यंग्यात्मक लहजा अधिक प्रिय है, यथा –

"इल्मो-हिकमत, दीनो-ईमाँ, मुल्को-दौलत, हुस्नो-इश्क़

आपको बाज़ार से जो कहिए ला देता हूँ मैं "[192]

शमशेर की ग़ज़लों अपने वक्त की सच्ची पहचान हैं । आज़ादी तो मिल गई पर देश के हालात क्यों नहीं बदले, विकास और प्रगति के सारे ख़ाब पहले की तरह मुट्ठी भर लोगों की आँखों तक क्यों सिमट कर रह गए? क्यों आम देशवासी उस आज़ादी के एहसास से बेख़बर रह गया ? ये सवाल शमशेर को किस कदर बेचैन कर रहे थे, यह शेर इसका प्रमाण है–

"आई बहार हुस्न का ख़ाबे-गराँ लिए हुए

मेरे चमन को क्या हुआ जो कोई गुल खिला नहीं"[193]

शमशेर अपने लोगों के आँखों के दिए में ख़ाबों की लौ को मद्धिम नहीं पड़ने देना चाहते हैं । शमशेर जन-जागृति और जन-चेतना की प्रबल आकांक्षा लिए अपने लोगों को ये एहसास कराना चाहते हैं कि ये ज़मीन, ये आसमान और सारी चाँदनी हमारी अपनी है । इनके अधिकार से बेखबर हम अपनी शक्तियों से बेखबर हैं । शमशेर का यह शेर द्रष्टव्य है –

"हमें आज भी खबर नहीं कि वही फ़लक है, वही जमीं

वही चाँदनी है कि यह हमीं कोई ख़ाब है कि दिखा गए"[194]

इस संशयात्मक लहजे से शमशेर अपनी रचना में ही नहीं अपने लोगों में भी विवेक की क्षमता जागृत करना चाहते हैं । शमशेर के उद्देश्य बहुत व्यापक हैं । उनकी चेतना जिस आज़ाद भारत के सपने बुन रही थी, वह उसे आजादी मिलने के बाद ही सच होता नहीं देख रहे थे । इसलिए अपने सपनों का भारत उन्हें इस जहाँ के पार ही नज़र आ रहा था । शमशेर कहते हैं –

"आज़ादियाँ है खित्ताएँ-वहम-ओ-गुमाँ के पार

आओ बसाएँ एक जहाँ इस जहाँ के पार"[195]

यहाँ पलायन या निराशा का स्वर नहीं है, बल्कि यह सोच इक़बाल के 'सितारे से जहाँ और भी हैं' वाली सोच के करीब आ जाती है । 1943 में कही ये पंक्तियाँ एक ओर नव-निर्माण और नव-सृजन के लिए आतुर एक रचनाकार की पंक्तियाँ हैं, तो दूसरी ओर ये उस भविष्यद्रष्टा कवि की भी पंक्तियाँ है जो आने वाले कल के भारत की तस्वीर खींच सकता था । इसलिए उसे सच्ची आजादी 'खित्तए-वहम- ओ-गुमाँ के पार' ही नज़र आती है । शमशेर जैसा प्रेम का पुजारी मानवता और विश्व-शांति की कामना ओत-प्रोत है, लेकिन वहीं शान्ति का दूत वतन की आबरू और आज़ादी पर मिटने वालों के साथ भी कंधे से कंधा मिलाकर चलता दिखता है । शमशेर एक ओर गाँधी के अहिंसा के सिद्धांत पर चलने का प्रण लेते हैं और दूसरी ओर शहीदों और क्रान्तिकारियों की राह में फूल बिछाते चलते हैं, वे कहते हैं-

"उस आस्ताँ तक हमको बहारों में ले के जाओ

जिस पर कोई शहीद हुआ हो शबाब में"[196]

देश-प्रेम की अमरज्योत हर क्षण शमशेर के भीतर जलती रहती है और इसका प्रकाश सौंदर्य की विविध अभिव्यक्तियों में बार-बार दिखता है –

"सौ बार उम्र पाऊँ तो सौ बार जान दूँ

सदके हूँ अपनी मौत के काफिर नहीं हूँ मैं"[197]

शमशेर की ग़ज़लें बदले हुए परिवेश में हो रहे एक-एक परिवर्तन की बारीकी से पड़ताल करती है । समय के साथ धर्म के विकृत होते चेहरे पर व्यंग्य कते हुए शमशेर कहते हैं –

"जितना ही लाउडस्पीकर चीखा, उतना ही ईश्वर दूर हुआ

(अलाल-ईश्वर दूर हुए)

उतने ही दंगे फैले जितने दीन-धर्म फैलाए गए"[198]

नये युग से उपजी मूल्यहीन संवेदना और जीवन-दृष्टि शमशेर को आहत करती है, जिसकी छाप उनकी ग़ज़लों में जगह-जगह मिलती है । यह संवेदनहीनता कभी महबूब की होती है, कभी कवि के प्रति समाज की और कभी जनता के प्रति रहनुमाओं की लेकिन ऐसी अनुभूतियों के चित्रण में शमशेर के हृदय की गहरी टीस सीधे अपने पाठक या श्रोता के हृदय का दर्द बन जाती है, जैसे यह शेर –

"हो चुकी जब खत्म अपनी जिन्दगी की दास्ताँ

उनकी फरमाइश हुई है इसको दोबारा कहें"[199]

शेर में गहरी आत्मीयता है और अनुभूति के साथ तादात्म्य स्थापित करने में कोई समस्या नहीं आती । यह कहने में जरा भी संकोच नहीं किया जा सकता कि शमशेर की शायरी का अंदाज किसी सधे हुए ग़ज़लगो का अंदाज़ है जहाँ किसी प्रयत्न या अभ्यास का चिह्न नज़र नहीं आता, बल्कि एक स्वत:प्रवाहित भाषा दिखती है जो अपने साथ अपने श्रोता को बहा ले जाने का हुनर जानती है । इनकी भावात्मक अनुगूँज अद्‌भुत है । शमशेर की ग़ज़लों का लिबास भले उर्दू का लगता हो पर उसकी आत्मा पूरी तरह हिन्दी है । लेकिन हिन्दी जगत में इन ग़ज़लोंक़ो उर्दू परंपरा का सिद्ध करके इनसे मुँह फेर लिया और उर्दू वाले इन्हें एक हिन्दी कवि का प्रयास

कहकर इनसे दूर ही रहना चाहते रहे । यानी जो पहचान और जगत शमशेर की ग़ज़लों को मिलनी चाहिए थी, वह हिन्दू-उर्दू की अंधी प्रतिस्पर्धा की भेंट चढ़ गई । जबकि सच तो यह था कि शमशेर के लिए ये दोनों भाषाएँ उनकी अपनी थीं । 'हमारी ही हिन्दी हमारी ही उर्दू' कहने वाले शमशेर के यहाँ पहुँचकर ये भाषाएँ अदब से सर झुकाती हैं और उस महाकवि का हो जाने में अपनी सार्थकता समझती है । खुद शमशेर की माने तो -

"मैं हिन्दी और उर्दू का दो आब हूँ
मैं वह आईना हूँ जिसमें आप हैं ।"[200]

ज्ञातव्य है कि हिन्दी ग़ज़ल की विकास-धारा को गति और दिशा दोनों शमशेर की ग़ज़लों से मिलती है । भारतेन्दु से लेकर शमशेर के पूर्ववर्तियों तक हिन्दी ग़ज़ल एक विधा के रूप में जन्म तो हो गया था, लेकिन वहाँ अनुकरण और अभ्यास के बीच रचनाकार तक की मौलिकता नहीं मिलती है, हिन्दी ग़ज़ल की पृथक पहचान खोजना तो दूर की बात लगती है । एक प्रकार से कहा जाए तो शमशेर की ग़ज़लों के माध्यम से पहली बार हिन्दी ग़ज़ल में ग़ज़लियत के दर्शन होते हैं । अपने परवर्ती ग़ज़लकारों के लिए शमशेर की ग़ज़लों के माध्यम से पहली बार हिन्दी ग़ज़ल में ग़ज़लियत का रूप सामने आता है । अपने परवर्ती ग़ज़लकारों के लिए शमशेर किसी उस्ताद शायर से कम नहीं थे । जहाँ महाकवि निराला शमशेर के बाद ग़ज़ल के क्षेत्र में आए, वहीं हिन्दी ग़ज़ल को वास्तविक पहचान देने वाले दुष्यन्त कुमार सीधे-सीधे स्वीकारते हैं – "ग़ज़ल का चस्का मुझे शमशेर बहादुर सिंह की ग़ज़लें सुनकर लगा था ।"[201]

खुद शमशेर ने अपनी ग़ज़लों को हिन्दी काव्य-परम्परा का अंग माना है। वे कहते हैं, "मैं अपनी ग़ज़लों को हिंदी रचनाओं से कभी अलग नहीं रखना चाहँगा ।.. ग़ज़ल एक लिरिक है, जिसकी कुछ अपनी शर्तें हैं, अपना प्रतीकवाद है, अपनी जीवंत परम्परा है ।"[202]

शमशेर ने हिन्दी ग़ज़ल के जनवादी स्वरूप का संस्कार आरम्भ कर दिया था, लेकिन वह जानते थे कि ग़ज़ल जैसी अत्यन्त नाजुक विधा में अचानक कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता । यदि इसके संपूर्ण साँचे और ढाँचे को नई जीवन-संवेदनाओं में ढालना है तो बहुत सावधानी और बहुत धीमे से । संभवत: इस बारीकी को निराला अनदेखा कर गए, जिससे एक महाकवि की रचनाएँ होकर भी उनकी ग़ज़लें साहित्य-पटल पर कहीं टिक नही ंसकीं । यही कारण है कि शमशेर ने ग़ज़ल की ऊपरी बनावट से छेड़-छाड़ कम ही की है । रदीफ़-काफ़िये और बहरों का सावधानी से पालन किया । कहीं-कहीं जो लोच है भी वह अनभिज्ञता के कारण नहीं बल्कि भावों के प्रवाह के कारण है । यहाँ तक कि अल्प प्रचलित और प्रचलित बहरों का भी प्रयोग किया है, जिससे ग़ज़ल पर उनकी पकड़ साफ झलक उठती है । विषय-वस्तु और ऊपरी बनावट भी उर्दू ग़ज़लों से बहुत अलग नहीं लगतीं । भाषा में भी उर्दू शब्दों का बेहिचक प्रयोग है बल्कि जब वे हिन्दी शब्दावली का मोह दिखाते हैं, तो उनके शेर बड़े उथले से लगने लगते हैं । जैसे -

"विचार अपने जो है घास-फूस तिनका है
ख़याल आपका है मोतियों-पिरोया हुआ ।"[203]

लेकिन इन सबसे बावजूद शमशेर धीमे-धीमे ग़ज़ल की अन्त:संरचना को परिवर्तित कर उसे हिंदी भावधारा में बहा रहे थे । उसकी भीतरी

बुनावट में नयी चेतना का संचार कर रहे थे। शमशेर वैसे भी अपनी बेजोड़ सांकेतिकता के लिए जाने जाते हैं। वे उस समय परिवर्तन की प्रक्रिया में अपनी इस विशेष क्षमता से काम ले रहे थे। यही कारण है कि बहुत बार इन सांकेतिक प्रभाव के बढ़ जाने से संवेदनाएँ उलझ गई हैं और वे अपना अर्थ तक स्पष्ट नहीं कर सके हैं। शमशेर की सांकेतिकता ने उनकी ग़ज़लों के माध्यम से हिन्दी ग़ज़ल के लिए एक रास्ता ज़रूर तैयार कर दिया, जहाँ वह 'हकीकत' को 'तखैयुल' (कल्पना) परद से बाहर लाना चाहते थे। शमशेर अपने सपने को साकार कर गए इसका प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं दुष्यन्त कुमार थे जिन्होंने शमशेर की बनाई राहों पर चलते हुए हिंदी ग़ज़ल को एक पृथक पहचान दी। शमशेर ने अपना सपना दुष्यन्त के रूप में साकार कर अपनी मंज़िल पा ली। शमशेर अपनी ख्वाहिशों को कुछ यूँ बयान करते हैं –

"वही उम्र का एक पल कोई लाए
तड़पती हुई-सी ग़ज़ल कोई लाए
हक़ीकत को लाए तख़ैयुल से बाहर
मेरी मुश्किलों का जो हल कोई लाए"[204]

दुष्यन्त कुमार :

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-साहित्य के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर दुष्यन्त कुमार का हिन्दी-साहित्य में योगदान हिन्दी-ग़ज़ल के माध्यम से सर्वविदित है। यद्यपि आपने कविता के माध्यम से हिन्दी-साहित्य में प्रवेश किया था, किन्तु हिन्दी-ग़ज़ल ने उन्हें जो ऊँचाई प्रदान की, वह उनके समकालीन ग़ज़लकारों ने

नहीं दी थी । उनके बाद ही अन्य हिन्दी गीतकारों ने उनके ग़ज़ल के मार्ग का अनुसरण किया और आज भी कर रहे हैं ।

जीवन-परिचय :

हिन्दी ग़ज़लकार दुष्यन्त कुमार का जन्म, बिजनौर जिले के तहसील नजीवाबाद के राजपुर कस्बे के समीप 'नावादा' गाँव में एक भूमिहर ब्राह्मण परिवार में दुष्यन्त कुमार का जन्म हुआ था । आपके पिता का नाम भगवत सहाय था, जिन्हें ग्राम के निवासी 'चौधरी' कहते थे । इनकी पहली पत्नी का देहावसान हो जाने के परिणामस्वरूप उन्होंने राजकिशोरी से दूसरा विवाह किया । इनकी दोनों पत्नी से उत्पन्न बालक-बालिकाओं में से केवल दो पुत्र ही जीवित रहे - दुष्यन्त नारायण सिंह त्यागी (दुष्यन्त कुमार) और प्रेम नारायण सिंह त्यागी ।

दुष्यन्त कुमार के जन्म-कुण्डली के आधार पर पहले उनका नाम दुष्यन्तनारायण सिंह त्यागी रखा गया । किन्तु हाईस्कूल का फार्म भरते समय आपने अपने मित्र रवीन्द्रनाथ त्यागी के सुझाव से अपने नाम से नारायण शब्द हटाकर कुमार अंकित कर दिया था और उसके बाद से उनका नाम दुष्यन्त कुमार त्यागी हो गया, किन्तु उसके बाद उन्हें हिन्दी-साहित्य में दुष्यन्त कुमार के नाम से जाना जाने लगा है ।

दुष्यन्त कुमार त्यागी का बाल्यकाल नवाद, राजपुर तथा मुजफ्फर नगर में व्यतीत हुआ । बालक दुष्यन्त कुमार साहसी, निर्भीक, विद्रोही और अलमस्त स्वभाव के थे । दुष्यन्त कुमार स्वाभिमानी थे । स्वाभिमानी होने के कारण वे किसी के सम्मुख अपने को हल्का महसूस नहीं करते थे । जीवन में प्रत्येक कार्य को जल्द-से-जल्द करने की उनकी आदत थी । यही

कारण था कि चवालीस वर्ष की अवस्था में जीवन के प्रत्येक सुख उन्होंने भोग लिए थे ।

प्रारंभिक और उच्च शिक्षा :

दुष्यन्त कुमार की प्रारंभिक शिक्षा नबादा, नजीवाबाद, मुजफ्फर नगर, नहटोर, चन्दोसी में सम्पन्न हुई थी । सन् 1937 ई. में उन्होंने 'नवादा प्राथमिक शाला' में प्रवेश लिया था । कुछ समय तक आपने नजीवाबाद में अध्ययन करने के उपरान्त मुजफ्फर नगर से सातवीं कक्षा उत्तीर्ण की थी । जिला बिजनौर की 'नहोटा' तहसील से आपने नवीं कक्षा उत्तीर्ण की और सन् 1948 ई. में 'चन्दौसी इन्टर कॉलेज' से आपने हायर सेकेण्डरी की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण की थी । इसके उपरान्त उच्च शिक्षा के लिए दुष्यन्त कुमार इलाहाबाद आ गए । यहाँ पर रहकर सन् 1952 ई. में आपने बी.ए. किया और एम.ए. भी हिन्दी विषय में सन् 1954 ई. में द्वितीय श्रेणी से उत्तीर्ण हुए । इलाहाबाद विश्वविद्यालय हिन्दी का केन्द्र माना जाता था । उन्होंने डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ.रामकुमार वर्मा और रसाल जी जैसे विषय विशेष के प्रकाण्ड मनीषियों गुरूओं की छत्रछाया में हिन्दी विषय का अध्ययन किया था । यह उनका सौभाग्य था । महाविद्यालयीन जीवन में दुष्यन्त कुमार का साहित्य के प्रति आकर्षण दिखाई देने लगा था । आपने महाविद्यालयीन जीवन में ही देवकीनन्दन खत्री के तिलस्म उपन्यासों को पढ़ डाला था । प्राचीन कवियों में सूरदास, तुलसीदास और छायावादी कवियों में निराला का उन पर प्रभाव था । हालवादी गीत के प्रवर्तक हरिवंशराय बच्चन के गीत उन्हें काफी प्रिय थे । नयी-कविता के कवि गजानन माधव मुक्तिबोध की कविता ने भी दुष्यन्त कुमार को प्रभावित किया था ।

युवावस्था :

कवि दुष्यन्त कुमार के व्यक्तित्व गुणों में अच्छे-बुरे दोनों गुणों का प्रभाव था । परेशानियाँ उनकी हँसी को पोंछ नहीं पाती थीं । उनके व्यक्तित्व का निर्माण करने में उनकी परेशानियों का विशेष योगदान है । उन परेशानियों ने ही उन्हें जीवन की विषाक्त विसंगतियों को निर्भीकता से अभिव्यक्त करन की शक्ति प्रदान की थी, जिसके फलस्वरूप वे कविता के माध्यम से प्रखर प्रहार कर सके थे । शरद जोशी ने 'सरिका' पत्रिका के 'दुष्यन्त स्मृति अंक' में लिखा है, जो उनके न होने पर भी उनके जीवन-जीने के साकार स्वरूप को उकेर दते हैं – "वास्तव में दुष्यन्त कुमार सदैव परिवर्तन के लिए बेचैन रहते थे । कुल मिलाकर चन्द दोस्तों और दुश्मनों की गतिविधियों से अधिक न मानना और इस सबके बावजूद किसी श्रेष्ठ और महान लेखन के सपने संजोना उनका स्वभाव था ।"[205]

इसीलिए जीवन-पर्यन्त वे जीवन-युद्ध में कुशल, प्रवीण योद्धा के समान लड़ते रहे । अपनी साहसिक भुजाओं के माध्यम से उन्होंने अपने जीवन का निर्वाह किया था । उन्होंने अपने इस स्वभाव का जिक्र अपने मित्र कमलेश्वर से एक पत्र के माध्यम से इस प्रकार किया था । उन्होंने लिखा – 'मैंने देखा कि बिल्कुल नि:सहाय और अकेला हूँ – सिवाय अपने कुब्बले-बाजू के न कोई दोस्त है, न——'[206]

व्यवसाय :

दुष्यन्त कुमार के पिता श्री भगवान सहाय छोटे जमींदार थे । यह जमींदारी उन्होंने ससुर से प्राप्त की थी । जमींदारी से हो रही आमदनी से प्रारंभ में उन्होंने अपने परिवार का लालन-पालन किया, किन्तु स्वतंत्र भारत

में जमींदारों की जमींदारी समाप्त कर दी गईं, इसलिए अन्य भारतीय जमींदारों के समान ही उनकी जमींदारी भी समाप्त हो गई । जमींदारी से प्राप्त धनराशि से भगवान सहाय ने घर के लालन-पालन के लिए बड़े स्तर पर कृषि-व्यवसाय प्रारंभ किया । उनके बाद उनकी माँ ने इस व्यवसाय को आगे बढ़ाया । यही उनके परिवार के संचालन के लिए आय का सबसे बड़ा साधन था और आज भी है ।

सरकारी नौकरी :

दुष्यन्त कुमार की सरकारी नौकरी सन् 1958 ई. में आकाशवाणी दिल्ली में एक सामान्य कर्मचारी के पद पर लगी । सरकारी नौकरी से पहले आपने किरतपुर के प्राइवेट इण्टर कॉलेज में अध्यापन कार्य भी कर चुके थे । सन् 1960 ई. में आपका स्थानांतरण आकाशवाणी, भोपाल केन्द्र पर हो गया । सहायक प्रोड्यूसर के पद पर रहकर आपने आकाशवाणी के लिए ध्वनि-नाटकों का सृजन भी किया, जिनका प्रसारण भी इस केन्द्र से किया गया । आकाशवाणी की नौकरी छोड़ने के उपरान्त आपने कुछ समय तक 'ट्रायवल वेलफेयर' में उप-संचालक के पद पर भी कार्य किया । स्वभाववश उनका अपने विभाग के मंत्री से झगड़ा हो गया । फलत:, उन्हें निलम्बित कर दिया गया । विभागीय कार्यवाही में जब उनसे उनके विरुद्ध लगाये गये आरोपों का उत्तर माँगा गया, तब उन्होंने मंत्री महोदय को ऐसी खरी-खोटी सुनाई कि वह निरूत्तर हो गए । किसी निलम्बित कर्मचारी द्वारा आरोप के जवाब में मंत्री जी पर आरोप लगाने का नौकरी के इतिहास में एक विशिष्ट दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी । किन्तु उनके इस कार्य से कर्मचारियों को भी बल मिला था । वे भाषा विभाग के भी सहायक संचालक रह चुके थे। यहाँ भी उनके सचिव से व्यक्तिगत मतभेद हो गया था । सचिव बुरी

तरह उलझ गए थे । इस कारण से वे समझौते की बात करने लगे, किन्तु दुष्यन्त जी ने समझौते से इन्कार कर दिया । इसके साथ ही उन्होंने उन्हें यह भी कह दिया कि जब तक सरकारी क्षेत्र में यह घटियापन रहेगा, तब तक वे चुप रहेंगे । इस सम्बन्ध में डॉ. हरिचरण शर्मा जी ने 'दुष्यन्त कुमार और उनका साहित्य' पुस्तक में लिखा है- "जब सचिव महोदय ने नौकरी की बात चलाकर उन्हें डराना, धमकाना चाहा, तब साहसी दुष्यन्त कुमार ने बड़ी शान से कहा- आपकी यह बात बेमानी है । जितनी तनख्वाह आप मुझे देते हैं, उससे तो मेरा दारू का खर्च भी पूरा नहीं होता । आप नहीं जानते मैं आपको या किसी की नौकरी में हूँ, मुझे किसी भी चिन्ता नहीं । इस प्रकार कलम के सिपाही दुष्यन्त ने नौकरी के काल में अपने अदम्य साहस का परिचय दिया "।[207] दुष्यन्त मुखर, निर्भीक और साहसी प्रवृत्ति के थे । उनके समकालीन कमलेश्वर, मोहन राकेश, मार्कण्डेय आदि की भी यही प्रकृति थी। इसलिए इनसे उनकी खूब पटती थी । वास्तव में साहसी, निर्भीक साहित्यकार अपने युग की विसंगतियों को मुखरता से अभिव्यक्त कर सकता है, असाहसी, चापलूस और डरपोक नहीं । साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है ।

मृत्यु :

हिन्दी साहित्य के सुपरिचित और प्रतिष्ठित साहित्यकार दुष्यन्तकुमार का देहान्त 44 वर्ष की अवस्था में सन् 1975 ई. के दिसम्बर माह की 29 तारीख को रात्रि ढाई बजे हो गया था । दुष्यन्त कुमार की मृत्यु के सम्बन्ध में 'चिन्तक' जी ने लिखा है – "सदैव मृत्यु के अस्तित्व को नकारते रहने वाला युवा कवि दुष्यन्त न जाने कैसे आज मृत्यु की चकाचौंध से एक शकुन्तला के हृदय को विदीर्ण कर गया और अपने अनगिनत पाठकों और

मित्रों को यहाँ तक कि शत्रुओं के वज्र जैसे हृदय को नवनीत में परिणित कर बहने और बिलखने को विवश कर दिया ।"

मृत्यु तो भौतिक तत्व को पंच-तत्व में विलीन करती है, पर जो अदृश्य है, सत्य है, वह आज भी उनके कृतित्व के माध्यम से साहित्य-जगत् में विद्यमान है । वही सत्य उन्हें शारीरिक रूप से विलीन हो जाने के बाद भी अमर किए हुए है और किए रहेगा । उनकी साहित्यिक उपलब्धियाँ सदैव ही हिन्दी-साहित्य को अलंकृत करती रहेंगी । व्यक्तित्व के साथ इसी क्रम में उनके कृतित्व पर भी यहाँ विचार किया जा रहा है ।

कृतित्व :

दृष्यन्त कुमार हीन्दी साहित्य के अप्रतिम कवि हैं । उन्होंने कविता, कहानी, गीति-नाट्य और हिन्दी ग़ज़ल के क्षेत्र में जो योगदान दिया है, वह सदैव हिन्दी साहित्य-जगत् में अभिभूषित होता रहेगा । उन्होंने थोड़ा लिखा है, पर जो भी लिखा है, वह अद्वितीय लिखा है । उनके कृतित्व को विस्मृत नहीं किया जा सकता है । दैहिक रूप में वे आज हमारे समक्ष नहीं हैं, तथापि इसके उनका कृतित्व आज भी उतना ही महत्व रखता है, जितना उनके जीवन-काल में रखता था और भविष्य में भी रखेगा । सम्प्रति यहाँ उनके कृतित्व का संक्षिप्त परिचय संक्षिप्त विशेषताओं के साथ दिया जा रहा है ।

प्रारंभिक कविताएँ :

दुष्यन्त कुमार त्यागी कुशाग्र बुद्धि के धनी थे । उन्होंने पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में ही लिखना प्रारंभ कर दिया था । प्राय: यह पाया गया है कि जो भी श्रेष्ठ साहित्यकार हुआ है, उसने अल्पावस्था में ही लिखना प्रारंभ

कर दिया है । जैसे- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, पन्त, महादेवी, रांगेय राघव, वीरेन्द्र मिश्र आदि । यह वे रचनाकार हैं, जिन्होंने आठ वर्ष से पन्द्रह वर्ष की अवस्था में ही लेखन-कार्य प्रारंभ कर दिया था । उसी परम्परा का निर्वाह दुष्यन्त कुमार ने किया था, किन्तु जिन्हें साहित्यिक लक्षणों से अलंकृत और जन-प्रिय कविताएँ कहा जा सकता है, उनका लेखन सन् 1949ई. से कर दिया था । इस समय उनकी अवस्था सत्रह वर्ष की हो गई थी । इस अवस्था में दुष्यन्तकुमार ने राजनीतिक क्षितिज पर विडम्बनाओं, आशंकाओं, विसंगतियों के बादलों का एकत्रित होना देखना प्रारंभ कर दिया था । राजनीतिक गतिविधियों के कारण उनके मन में मोहभंग की भावना भी देखी जाने लगी थी । इन गतिविधियों के कारण उनके मन में मोहभंग की भावना भी देखी जाने लगी थी । इसीलिए उनकी कविताओं पर उसका प्रभाव देखने को मिलता है । स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त देश की स्थिति बहुत ही दयनीय थी । अतः दुष्यन्तकुमार देश की समस्याओं से कैसे प्रभावित नहीं होते । इन समस्याओं की अभिव्यक्ति उन्होंने प्रारंभिक रचनाओं में की है ।

दुष्यन्त कुमार ने प्रारंभिक कविताओं का संकलन 'पहली पहचान' शीर्षक रचनाओं में किया है । इस संकलन में अपना नाम दुष्यन्त नारायण सिंह त्यागी नहीं दिया है । इसके स्थान पर उन्होंने दुष्यन्त कुमार 'परदेशी' लिखा है । दुष्यन्त कुमार ने कविता और गीत के माध्यम से साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश लिया था । जिस समय कवि त्यागी ने लिखना प्रारंभ किया था, उस समय छायावादोत्तर गीत और प्रगतिवादी विचारधारा का प्रभाव था । दोनों का प्रभाव भी दुष्यन्त कुमार पर पड़ा था । उनकी कविता पर प्रगतिवादी विचारधारा का प्रभाव मिलता है । प्रगतिवादी से प्रभावित दुष्यन्त कुमार ने

निराला की 'पेट पीठ दोनों थे एक चल रहा लकुटिया टेक, मुट्ठी भर दाने को-' पंक्तियों के समान भाव पर गीत की यह पंक्तियाँ लिखी थीं –

पेट पीठ हैं मिले हुए पर जीवन से मत भाग ।

कवि दुष्यन्त कुमार की रूमानी प्रवृत्ति उन्हें छायावादी और हालवादी शैली में गीत लिखने के लिए प्रेरित करती है, जिसमें 'प्रेम' की तीव्रता है । तत्सम्बन्ध में कवि की प्रेमानुभूति से प्रभावित गीत की पंक्तियाँ अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं –

प्राण तुम्हारे पथ में मैंने
विश्वासों के जाल बिछाए
सजल प्रतीक्ष करते करते
मेरे तो लोचन पथराए ।[208]

कवि की वरह की प्रेमाभिव्यक्ति निम्नांकित पंक्तियों में भी देखी जा सकती है –

चिर विरह की आग में सखि
जल रहे हैं गान मेरे ।

कवि दुष्यन्त कुमार के जीवन-काल में निम्नांकित काव्य-संग्रह प्रकाशित हो गए थे, जिनका भाव-विचारगत और शिल्पगत संक्षिप्त उल्लेख यहाँ किया जा रहा है । उनके संग्रह के नाम हैं – 'सूर्य का स्वागत', 'आवाजों के घेरे', 'जलते हुए वन का बसन्त', 'साये में धूम' हैं । कवि ने इन काव्य संग्रह के अतिरिक्त गीति-नाट्य का सृजन किया है, जिसका हिन्दी गीति-नाट्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है ।

सूर्य का स्वागत :

कवि दुष्यन्त कुमार ने 'सूर्य का स्वागत' काव्य-संग्रह से प्रारंभ कर 'साये में धूप' तक काव्य यात्रा की थी । विवेच्य काव्य संग्रह का प्रकाशन सन् 1957 ई. में हुआ था । इस काव्य-संग्रह में कवि की 48 कविताएँ संकलित हैं । इस संग्राह की कविताओं से कवि ने समकालीन काव्य-जगत् में महत्वपूर्ण स्थान स्थापित कर लिया था ।

सामाजिक यथार्थ उनकी कविता में पूर्णतः परिलक्षित होता है । विवेच्य कृति 'सूर्य का स्वागत' की अधिकांश कविताओं में मानव-जीवन से सम्बन्धी यथार्थ की अभिव्यक्ती विशेष रूप से पाई जाती है । कवि दुष्यन्त ने टूटन, बिखराव और विच्छेदन को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, जिसने कवि के अन्तर्मन को झकझौर दिया है –

टूटी हुई जिन्दगी,
आंगन में दीवार से पीठ लगाए खड़ी है
कटी हुई पतंगों से हम सब
छत की मुंडेरों पर पड़े हैं ।[209]

मनुष्य की अतृप्त इच्छाएँ कुण्ठा का रूप ले लेती हैं । अवसर आने पर वह प्रकट होना चाहती है और इस अवस्था में भी वह कुण्ठित इच्छाएँ पूर्ण नहीं होती हैं । तो वे शूल की तरह चुभती हैं, अन्तर्मन को झमझोर देती हैं, जिससे मानव अथवा व्यक्ति का चित अस्थित हो जाता है । कवि दुष्यन्त ने अपनी कुण्ठा को इस प्रकार प्रकट किया है –

मेरी कुण्ठा
रेशम के कीड़ों-सी

तीने-बाने बुनती

तड़फ-तड़फ कर बाहर आने को सिर धुनती ।[210]

'नयी पीढ़ी के गीत' में कवि दुष्यन्त ने इस विश्वास और आस्था को अभिव्यक्त किया है –

तुम अगर आज रोते हो तो कल गा लोगे

तुम बोझ उठाते हो, तूफान उठा लोगे

पहचानो धरती करवट बदला करती है

देखो तुम्हारे पाँव तले भी धरती है ।[211]

ऐसी अनेक कविताएँ कवि के 'सूर्य का स्वागत' संग्रह में पाई जाती हैं। इन कविताओं में प्रौंढ़ता है और शिल्प का विशिष्ट्य भी । कवि की प्रत्येक रचना में उनका व्यक्तिगत अनुभव है, जो संवेदना की प्रबल धारा के रूप में प्रवाहित हो रहा है ।

आवाजों के घेरे :

दुष्यन्त कुमार त्यागी का दूसरा काव्य संग्राह 'आवाजों के घेरे' है, जिसका प्रकाशन पहले काव्य-संग्रह के छह वर्षोपरान्त सन् 1963 ई. में हुआ था । इस संग्रह में 51 कविताएँ हैं, जिनके विषय विविध हैं । इस संग्रह में कवि ने जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रश्न कविताओं के माध्यम से किए हैं । उन प्रश्नों के माध्यम से कवि दुष्यन्त कुमार ने जीवन को व्याख्यायित किया है । सामाजिक आंतोष, ऊँच-नीच, बेईमानी, धोखाधड़ी, अन्याय अत्याचार आदि कवि को झकझोर देते हैं । कवि की यही बेचैनी संग्रह की कविता 'आवाजों के घेरे' में संवेदनात्मक रूप में अभिव्यक्त हुई है । पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं –

या फिर मेरी आँखों पर पट्टी बाँधो

मेरे अधरों पर जड़ दो ताला

कानों के पर्दे कर दे नष्ट

मेरी भावुकता को बेवस कर दो - वरना फिर ।[212]

कवि दुष्यन्त कुमार का जी देश और समाज के विषाक्त वातावरण में घुटता है । वे यह भी महसूस करते हैं कि समाज और देश के अन्य जनों अथवा आम-आदमी का जीवन भी इस वातावरण में घुट रहा होगा । फलतः वे उन्हें इस घटुन से भरे वातावरण से मुक्त करना चाहते हैं । उन्हें वे नेक सलाह देते हुए लिखते हैं –

यह कि चुपचाप जिए जाऐं

प्यास पर प्यास जिए जाऐं

काम हर एक किए जाऐं

और फिर छुपाऐं

वह जख्म जो हरा है ।

यह परम्परा है ।[213]

नवी-कविता के हस्ताक्षरों में दुष्यन्त कुमार जी का जीवन और जगत् की नश्वरता का एहसास प्रशंसनीय है । 'एक मित्र के नाम' कविता में जीवन की क्षणभंगुरता और उसके प्रति विश्वास को सार्थकता के साथ कवि ने अभिव्यक्त किया है, तत्सम्बन्ध में पंक्तियाँ अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं –

एक दाँव हारे हैं

एक जीत जीतेंगे

जीवन के दिन हैं

अभी बीत जाएँगे ।[214]

'आवाज के घेरे' में कवि सर्वत्र अन्याय के विरुद्ध बेचैन दिखाई पड़ता है । वह मध्यवर्गीय समाज की स्थिति और अभाव से सुपरिचित है । इसलिए ही वह यथार्थ के धरातल पर मध्यवर्गीय बेचैनी को वाणी देने में सफल है । इस आधार पर इस काव्य संग्रह को आम-आदमी की पीड़ा का संग्रह कहा जाना न्यायोचित प्रतीत होता है ।

जलते हुए वन का बसन्त :

इस संग्रह के सम्बन्ध में चिन्तक जी ने लिखा है- "आवाजों के घेरे में घिरा हुआ व्यक्ति और दुष्यन्तकुमार बहुत बेचैन रहता है । आगे वह संवेदनाओं से सम्पन्न हो विपन्नता के वन में भटकते हुए, वीरान जिन्दगी लिए, विषमताओं से दग्ध बसन्त बेला में आनन्द मनाने लगता है, किन्तु वह आनन्ददायी बसन्त वेदनाओं से रिक्त नहीं रहता । हर क्षण, हर पल वेदना चक्र चलता रहता है – इसके प्रत्येक आघात् को कवि कलम की पैनी धार से निष्प्रभाव करने के लिए तत्पर है । हृदय के अंत:तल में आस्था को प्रतिष्ठित किए वह परिवर्तन के लिए व्याकुल है ।"[215] यह दुष्यन्त कुमार के स्वभाव का अभिन्न अंग बन गया था, जिसे उन्होंने जीवन में निष्पादित किया और कविता में भी संवेदना के माध्यम से अभिव्यक्त किया ।

'जलते हुए वन का बसन्त' कवि दुष्यन्त कुमार का तीसरा काव्य-संग्रह है, इसमें उनकी 45 कविताएँ संकलित हैं । विवेच्य काव्य संकलन तीन खण्डों में विभक्त है, जिनका नामकरण – इतिहास-बोध, देश-प्रेम और चक्रवात है । इस संग्रह की प्रथम कविता 'अवगाहन' उपयुक्त तीनों खण्डों

से अलग है । मानव जीवन में परिस्थितियों का भी महत्वपूर्ण प्रदेय है, यह परिस्थितियाँ मानव जीवन को कुछ-से-कुछ बना सकती है । अतः परिस्थितियों का जीवन को दिशा देने में योगदान होता है । इतिहास-बोध खण्ड की प्रथम कविता 'योग-संयोग' में इस सत्य का उद्‌घाटन इस प्रकार से किया गया है –

मैं ने प्रहार नहीं किया
सिर्फ चोटें सही,
केवल हँस कर
अब मेरे कोमल व्यक्ति को
प्रहारों ने कड़ा कर दिया है ।[216]

'यामानुभूति' कविता स्वतंत्रता के उपरान्त लिखी होने के कारण ही, उसमें आजाद भारतवर्ष के परिवर्तित मूल्यों का उद्‌घाटन हुआ है । सम्यक् रूप से कवि दुष्यन्त कुमार ने अपने इस कविता-संग्रह में विषय-वैविध्य पाया जाता है, क्योंकि इसमें आम-आतमी की पीड़ा के साथ, जातीय-प्रेम, देश-भक्ति की भावना को अभिव्यक्त किया है ।

साये में धूप :

दुष्यन्त कुमार की काव्य-यात्रा का अन्तिम संग्रह 'साये में धूप' है । यह उनका ग़ज़ल संग्रह है । इस संग्रह में उनकी 52 ग़ज़लें हैं । इसका प्रकाशन सन् 1975 ई. में हुआ था । कवि दुष्यन्त कुमार को इस संग्रह ने जो प्रसिद्धि प्रदान की है, वह प्रसिद्धि उन्हें अन्य काव्य संग्रह से नहीं प्राप्त हुई थी । उन्होंने ग़ज़ल को नई दिशा दी, जिसके कारण हिन्दी काव्य-जगत

में हिन्दी ग़ज़ल का आन्दोलन प्रारंभ हुआ । हिन्दी ग़ज़लकार दुष्यन्त कुमार की निम्नांकित पंक्तियों में संवेदना का जायजा ले सकते हैं-

कहाँ तो तय था चिरागाँ हरेक घर के लिए
कहाँ जिराग़ मयस्सर नहीं शहर के लिए ।[217]

कवि दुष्यन्त कुमार ने अपने मन की बेचैनी को अधिकतर अपने शेरों के माध्यम से व्यक्त किया है । वे देश में आम-जनता की स्थिति पर बहुत ही चिन्ता व्यक्त करते हैं, क्योंकि उन्हें यह मालूम है, देश की बागडोर आम-आदमी के हाथ में नहीं है अपितु विशिष्ट लोगों के हाथ में है । निम्नांकित पंक्तियों में कवि दुष्यन्त कुमार ने 'हमारी' सर्वनाम का प्रयोग बहुसंख्यक जनता, जिसे आम-आदमी/सामान्य-जन के लिए किया है ।

हमको पता नहीं था हमे अब पता चला
इस मुल्क में हमारी हकूमत नहीं रही ।[218]

इस बात की पुष्टि इन पंक्तियों के माध्यम से की गई है –

हिम्मत से सच कहो तो बुरा मानते हैं लोग
रो-रो के बात कहने की आदत नहीं रही ।[219]

चन्द्रसेन 'विराट' :

समकालीन हिन्दी कविता में स्वतंत्रता के उपरान्त कदम रखने वाले महत्वपूर्ण हस्ताक्षर कृतिकार चन्द्रसेन 'विराट' हैं, जिन्होंने विगत चार दशकों से अधिक समय से हिन्दी में रचनाधर्मिता के दायित्व को बखूबी निर्वाह कर रहे हैं । उनके बिना हिन्दी कविता का उल्लेख और मूल्यांकन अधूरा ही है । यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि ग्वालियर-राज्य और

इन्दौर के होल्कर राज्य में बम्बई-पूना से अनेक महाराष्ट्रीयन-परिवार आकर बस गए, जो बाद में यहाँ के ही हो कर रह गए । उन्हीं में से एक परिवार डोंके परिवार है, जो यहाँ पर आकर यहाँ का ही होकर रह गया था । चन्द्रसेन 'विराट' इसी परिवार के सदस्य हैं ।

चन्द्रसेन 'विराट' का जन्म महाराष्ट्रीयन परिवार के डोंके के यहाँ सितम्बर 1936 ई. को इन्दौर के निकट बलबाड़ ग्राम में हुआ था । आपके पिता का नाम यादवराव डोंके और माता का नाम वेणुताई डोंके था । 'विराट' जी के दो छोटे भाई और दो छोटी बहनों में सबसे बड़े थे ।

विराट की शिक्षा और नौकरी :

चन्द्रसेन 'विराट' के पिता यादवराय डोंके का शिक्षक होने के कारण विभिन्न स्थानों पर अध्ययन करना पड़ा । चन्द्रसेन 'विराट' ने सन् 1953 ई. में हायर सेकेण्डरी की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की । इसके उपरान्त उन्होंने बी.ई. की परीक्षा इन्दौर के 'गोविन्दराम सक्सेरिया टेक्नॉलजिकल इन्स्टिट्यूट, इन्दौर से उत्तीर्ण की । अध्ययन समाप्त करने के उपरान्त आपकी नौकरी लोक निर्माण विभाग में सन् 1959 ई. में लग गई थी । इस नौकरी के कारण उन्हें प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों पर जाना पड़ा, जिनमें शाहगंज, बुधनी, अलीराजपुर, उज्जैन, मन्दसौर, नीमच, भोपाल, भिण्ड, रायसेन आदि हैं । आप जब नर्मदा विकास प्राधिकरण में थे, उस समय आप अधीक्षण यंत्री के पद पर थे और इसी पद से आप सेवानिवृत्त हुए । सेवानिवृत्ति के बाद चन्द्रसेन जी ने अपना स्थायी निवास इन्दौर में बना लिया, जहाँ वे अपनी पत्नि के साथ सुखद जीवन-यापन कर रहे हैं ।'

पारिवारिक-जीवन :

आपका विवाह इन्दौर निवासी महाष्ट्रीयन परिवार की बालिका से हुआ, जिसका नाम विमला था, विवाह के उपरान्त महाराष्ट्रीयन रीति-रिवाज के कारण उनका नाम हेमलता पड़ गया । क्योंकि महाराष्ट्रीयनों में विवाह के उपरान्त बेटी का नाम बदल जाता है, इसलिए विमला जी का नाम पति के घर में हेमलता हो गया । चन्द्रसेन 'विराट' और हेमलता जी के दो पुत्र और एक पुत्री हैं, जिनका विवाह कुलीन महाराष्ट्रीयन-परिवारों में कर दिया गया है, जहाँ वे अपना सुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं ।

रचनाकार का प्रादुर्भाव :

विराट, जब 9-10 अवस्था के थे, तब ही से वे तुकबन्दी करने लगे थे । विराट जब चौथी कक्षा में अध्ययनरत थे, तब महिदपुर स्कूल के 15 अगस्त के कार्यक्रम में उन्होंने वीर रस से ओतप्रोत कविता का पाठ किया था, उस समय उनके पिता श्री यादवराव डोके इस स्कूल के प्रधानाचार्य थे । उनके इस रचना को सुनकर उनके मित्रों ने उन्हें 'विराट' कहना प्रारंभ कर दिया । इस नाम से चन्द्रसेन 'विराट' इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने नाम के साथ विराट उपनाम को जोड़ दिया, जिसका प्रयोग वह और प्रबुद्ध पाठक आज तक करते हैं । स्कूल के उत्सवों और कार्यक्रमों के माध्यम से उनका काव्य-सृजन की ओर रूझान बढ़ने लगा । यद्यपि यह रचनाकार के रूप में 'विराट' का पहला प्रयास था, तथापि इसके बाद उनकी लेखनी निरन्तर चलती रही तथा रचनाधर्मिता में उत्तरोत्तर प्रौढ़ता आती गई । इसके साथ ही स्कूल के उत्सवों में भागीदारी बढ़ने लगी तथा उनके अध्यापक उनके साहस व रुचि को फलित होने के लिए प्रोत्साहित करने लगे ।

चन्द्रसेन 'विराट' की प्रथम रचना 'जागरण' इन्दौर में सन् 1955 ई. में प्रकाशित हुई । इस रचना के प्रकाशन ने भी विराट को आत्मबल प्रदान किया । तत्पश्चात् उनकी रचनाएँ धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, कादम्बिनी, आज आदि में एक-के-बाद-एक प्रकाशित होने लगीं । इन पत्रिकाओं और कवि-मंचों के माध्यम से उन्हें इतनी प्रसिद्धि प्राप्त हुई कि सन् 1966 ई. में लाल किले पर विराट कवि-सम्मेलन में रचना पाठ किया । गणतंत्र दिवस के उपलक्ष्य में होने वाले काव्य-गोष्ठी में भाग लेकर कवि विराट ने राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले कवि-सम्मेलन में भी भाग लिया ।

चन्द्रसेन विराट की रचनाएँ :

चन्द्रसेन 'विराट' लम्बे समय से काव्य-सृजन कर रहे हैं, जिन्होंने इस समयावधि में अनेक आन्दोलन देखे हैं । उनकी रचनाओं पर विहंगावलोकन किया जाये, तो हम पाते हैं कि उन्होंने गीत-नवगीत, मुक्तक और ग़ज़लें लिखी हैं । वास्तव में उनकी काव्य-यात्रा गीत से प्रारंभ होती है, इस दौरान उन्होंने उर्दू की रूबाइयों के प्रभाव में मुक्तक का सृजन किया है और वर्तमान में ग़ज़लों का सृजन कर रहे हैं । वे पूर्ण रूप से वर्तमान में ग़ज़ल के लिए समर्पित हैं । वे ग़ज़ल को हिन्दी में 'गीतिका' नाम से अभिहित करते हैं । इस नाम का उन्होंने प्रचलित करने का अथक प्रयत्न किया है, किन्तु इसके बाद भी यह नाम उतना प्रसिद्ध नहीं हुआ है, जितना ग़ज़ल प्रचलित है । उनके कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें प्रमुख रूप से निम्नांकित हैं –

क. गीत-संग्रह :

प्रारंभ में चन्द्रसेन 'विराट' ने अपनी काव्य-यात्रा गीतों से प्रारंभ की थी तथा उनकी नवगीत के प्रमुख हस्ताक्षरों में गिनती भी की जाती थी और

उन्होंने लम्बे समय तक गीत-नवगीत का सृजन किया । इसका आशय यह नहीं है कि वे सम्प्रति गीतों का सृजन करते, यह कहना उनके गीत-व्यक्तित्व के प्रति सरासर अन्याय ही होगा । विराट आज भी गीतों का सृजन करते हैं। उनकी माँ भजन के माध्यम से पदों के प्रति जिस प्रकार का अनुराग उत्पन्न कर गई थीं, वह आज भी उनकी धमनियों में प्रवाहित हो रहा है । इसलिए वे अपने को ग़ज़ल आन्दोलन से जोड़ने के उपरान्त भी गीत-नवगीत से अलग नहीं कर सके हैं ।

1. महेंद्र रची हथेली : सन् 1965
2. स्वर के सोपान : सन् 1968
3. ओ मेरे सनम : सन् 1975
4. किरण के कशीदे : सन् 1974
5. मिट्टी मेरे देश की : सन् 1976
6. पीले चावल द्वार पर : सन् 1976
7. दर्द कैसे चुप रहे : सन् 1977
8. भीतर की नागफनी : सन् 1977
9. पलकों में आकाश : सन् 1978
10. बूँद-बूँद पारा : सन् 1979
11. सन्नाटे की चीख : सन् 1996
12. गओ कि जिये जीवन : सन् 2003
13. सरगम के सिलसिले : सन् 2008

ख. हिन्दी ग़ज़ल-संग्रह :

ग़ज़ल-सृजन का आन्दोलन दुष्यन्त कुमार से प्रारंभ हुआ, उसमें चन्द्रसेन विराट भी शामिल हो गए और उसके उपरान्त वे निष्ठापूर्वक ग़ज़लों का सृजन करने लगे । गीतों के साथ चन्द्रसेन 'विराट' ग़ज़लों का भी सृजन कर रहे हैं, तभी उनके कई ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित हो गए हैं, जो इस प्रकार से हैं -

1. निर्वसना चाँदनी, सन् 1970
2. आस्था के अमलतास, सन् 1980

3. कचनार की टहनी, सन् 1983 4. धार के विपरीत, सन् 1986

5. परिवर्तन की आहट, सन् 1987 5. लड़ाई लम्बी है, सन् 1988

7. न्याय कर मेरे समय, सन् 1991 8. फागुन मांगे भुजपाश, सन् 1993

9. इस सदी का आदमी, सन् 1997 10. हमने कठिन समय देखा है,सन् 2002

ग. मुक्तक-संग्रह :

मुक्तक चार पंक्तियों का उर्दू छंद है, जिसे उर्दू में 'रूबाई' कहते हैं । इस काल में जब कवि काव्य-सृजन कर रहा था, उस समय उनके समकालीन कवि मुक्तक-सृजन कर रहे थे । चन्द्रसेन 'विराट' पर इस छंद का भी प्रभाव ग़ज़ल छंद के समान पड़ा था, जिसके फलस्वरूप उन्होंने मुक्तकों का भी सृजन नवगीत-ग़ज़ल के समान प्रचुरता के साथ किया था । उनके मुक्तक-संग्रह इस प्रकार से हैं –

1. कुछ पलाश कुछ पाटल, सन् 1989 2. कुछ छाया कुछ धूप, सन् 1998

3. कुछ सपने कुछ सच, सन् 2000 3. कुछ अंगारे कुछ फुहारें, सन् 2006

घ. सम्पादित कृतियाँ :

1. गीत-गंध, सन् 1966 : 2. हिन्दी के मनमोहक गीत, सन् 1997 : 3. हिन्दी के सर्व श्रेष्ठ मुक्तक, सन् 1998 : 4. टेसू के फूल, सन् 2003 : 5. कजरारे बादल, सन् 2004 : 6. धूप के संगमरमर, सन् 2005, 7. चाँदनी-चाँदनी, सन् 2007.

ङ. सम्मान और पुरस्कार :

रचनाकार चन्द्रसेन 'विराट' के कृतित्व की श्रेष्ठतम कृतियों को विभिन्न संस्थाओं द्वारा पुरस्कार दिया गया है और सम्मानित भी किया गया

है। चन्द्रसेन 'विराट' को राष्ट्रीय और प्रान्तीय पुरस्कारों और सम्मानों से अलंकृत किया गया है ।

"पीले चावल द्वार के" गीत-संग्रह पर मध्यप्रदेश हिन्दी परिषद्, भोपाल द्वारा माखनलाल चतुर्वेदी पुरस्कार और उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ से पुरस्कार भी मिला । "सन्नाटे की चीख" गीत-संग्रह पर सन् 1999 ई. में अभियान संस्था, जबलपुर द्वारा दिव्य अलंकरण पुरस्कार मिला । "गाओ कि जिये जीवन" गीत-संग्रह पर मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भोपाल का वर्ष 2004 का अम्बिकाप्रसाद दिव्य पुरस्कार । अखिल भारतीय कला मंच मुरादाबाद द्वारा रामकिशनदास अग्रवाल स्मृति गीति साहित्य सम्मान 2004 पुरस्कार मिला । "न्याय कर मेरे समय" ग़ज़ल-संग्रह पर मध्यप्रदेश साहित्य परिषद्, भोपाल द्वारा वर्ष 1991 का सुभद्रा कुमार चौहान पुरस्कार तथा मध्य प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भोपाल द्वारा सन् 199192 का वागीश्वरी पुरस्कार मिला । "फागुन मांगे भुजपाश" ग़ज़ल-संग्रह पर वर्ष 1996 का मारवाड़ी सम्मेलन मुम्बई द्वारा घनश्याम सर्राफ सर्वोत्तम साहित्य पुरस्कार मिला । "इसी सदी का आदमी" ग़ज़ल-संग्रह अभियान संस्था, जबलपुर द्वारा वर्ष 1993 की ग़ज़ल विधा की श्रेष्ठ कृति का हिन्दी भूषण पुरस्कार मिला । "हमने कठिन समय देखा है" ग़ज़ल-संग्रह पर साहित्यकार संसद समस्तीपुर बिहार द्वारा राष्ट्रीय मीर तकी मीर शिखर साहित्य सम्मान किया गया । "कुछ छाया कुछ धूप" मुक्तक-संग्रह पर वर्ष 1999 का राधार देवी स्मृति साहित्य संस्था, सिवनी, मध्य प्रदेश द्वारा 2000 का हिन्दी भूषण पुरस्कार प्राप्त हुआ । "कुछ अंगारे कुछ फुहारें" मुक्तक-संग्रह पर वर्ष 2006 का टी.आर.नेमा फाउण्डेशन नरसिंहपुर, मध्य प्रदेश का तुलसीराम नेमा

साहित्य-सम्मान प्राप्त हुआ । इन पुरस्कारों के अलावा उनकी कृतियों के लिए कई अन्य पुरस्कार आदि भी प्राप्त हुए ।

कुँअर बेचैन :

आधुनिक हिन्दी कविता के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर कुँअर बेचैन हैं । हिन्दी काव्य-जगत् में नवगीत के माध्यम से प्रवेश किया था, किन्तु हिन्दी ग़ज़ल के साथ ही उनका मिज़ाज बदल गया वे हिन्दी ग़ज़ल में शामिल हो गए । उन्हें हिन्दी ग़ज़ल को ऊँचाई तक पहुँचाने में स्मरण किया जाता रहेगा । हिन्दी ग़ज़ल के पदार्पण के साथ ही आलोचकों की आलोचनाओं की आँधियाँ, उसके विरोध में तेजी से चलने लगी थीं । उसका समुचित उत्तर देने के लिए, उन्होंने आलोचकों को हिन्दी ग़ज़ल की प्रवृत्ति, गुण और उपयोगिता बतलाने का सार्थक प्रयास किया । क्योंकि कविता सृजक के साथ वे हिन्दी गद्य-लेखन में उतनो ही महारथी हैं और उतने ही समर्थ आलोचक थे । उन्होंने हिन्दी ग़ज़ल को स्थापित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया था । उन्होंने उसके लिए भूमिका, लेख, आलेख और व्याख्यान के माध्यम से हिन्दी ग़ज़ल की प्रकृति, स्वरूप और शिल्प के सम्बन्ध में अपने महनीय विचारों को विरोधियों तक पहुँचाने का सार्थक प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप हिन्दी ग़ज़ल ने हिन्दी साहित्येतिहास में स्थान प्राप्त किया । हिन्दी के ग़ज़लकार और ग़ज़ल-आलोचकों के उन विचारों को प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है, जिनके कारण हिन्दी ग़ज़ल साहित्येतिहास में स्थान पा सकी है । उनके ग़ज़ल-साहित्य का संवेदनात्मक और शिल्पात्मक अध्ययन आगे किया जावेगा । यहाँ उनके जीवन के विविध पक्षों पर संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है ।

जीवन-परिचय :

कुँअर बेचैन का पूरा नाम कुँअर बहादुर सक्सेना है । उन्होंने कुँअर बहादुर सक्सेना में से बहादुर सक्सेना हटाकर उसके स्थान पर 'बेचैन' उपनाम रख लिया है । आज हिन्दी साहित्य-जगत् में वे इसी नाम से जाने-पहचाने जाते हैं । कुँअर बेचैन के पिता का नाम नारायणदास सक्सेना और माता का नाम श्रीमति मंगादेवी है । उनकी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में जानकारी नहीं है । कुँअर बेचैन का जन्म-स्थान ग्राम उमरी, जिला मुरादाबाद उ.प्र. है । उनकी पत्नी का नाम श्रीमति संतोष सक्सेना है । उनके एक पुत्री और एक पुत्र है, जिनका क्रमश: नाम है- वंदना और प्रगति ।

कुँअर का प्रारंभिक जीवन ग्राम-परिवेश में व्यतीत हुआ था, इसलिए उनके मन पर ग्रामीण-परिवेश का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा था । कुँअर बेचैन का बचपन ग्राम-परिवेश में व्यतीत हुआ था, इसलिए उनके मानसिक-पटल पर ग्राम-जीवन का प्रभाव स्थायी रूप से अंकित हो गया था । कुँअर बेचैन की उम्र पढ़ने योग्य न होने के कारण उन्हें चंदौसी के प्राइमरी स्कूल, जो तेली वाली गली में था । इस स्कूल में उनको प्रवेश दिला दिया गया । कुँअर बेचैन की दूसरे दर्जे की पढ़ाई चन्दौसी के फब्बारे के पास के स्कूल में हुई कुँअर पढ़ने में होशियार थे । कक्षा में हमेशा प्रथम आते थे । प्राइमरी शिक्षा के पश्चात् कुँअर का प्रवेश सरकारी मिडिल स्कूल में कराया । यहाँ से उन्होंने मिडिल की परीक्षा विद्यालय में प्रथम स्थान तथा जिले में वरीयता सूची में स्थान प्राप्त करने के पश्चात् कुँअर ने नवी कक्षा में चन्दौसी के बाहर सैनी हाईस्कूल में वाणिज्य संकाय में प्रवेश लिया । सन् 1957 ई. में हाईस्कूल परीक्षा में कुँअर प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए । बारहसेनी से परीक्षा पास करने के पश्चात् कुँअर एस.एस. डिग्री कॉलेज चन्दौसी के विद्यार्थी

बने। यहाँ ये उन्होंने इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की और उन्हें पूरे उत्तर प्रदेश में वरीयता सूची में स्थान प्राप्त हुआ । इसी कॉलेज से सन् 1961 ई. में बी.कॉम. और आगरा विश्वविद्यालय से वरीयता सूची में स्थान प्राप्त हुआ । उन्हें एम.कॉम. के पूर्वार्द्ध में अच्छे अंक प्राप्त नहीं हुए । इस काल में उन्होंने सोनीपत में लिपिक के पद पर कार्य किया, किन्तु उनका मन नहीं लगा, फलतः उन्होंने दो दिन उपरान्त ही नौकरी छोड़ दी । एम.कॉम. की परीक्षा पास करने के बाद लायब्रेरी में नौकरी कर ली । कॉलेज के हिन्दी विभागाध्यक्ष श्री गंगाशरण शर्मा 'शील' ने कुँअर को एम.ए. हिन्दी करने के लिए प्रोत्साहित किया । सन् 1965 ई. में उन्होंने एम.ए. हिन्दी में किया । उनका विवाह अलीगढ़ निवासी श्री लक्ष्मण स्वरूप जौहरी की सुपुत्री संतोष कुमारी से हो गया था । सन् 1965 ई. में कुँअर एम.ए. एवं कॉलेज में हिन्दी-विभाग में प्रवक्ता हो गए । इसके बाद कुँअर जी गाजियाबाद में ही निवास करने लगे ।

सन् 1961 ई. में जब बी.कॉम. के छात्र थे, उस समय में उन्होंने एक गीत लिखा था –

जितनी दूर नयन से सपना
जितनी दूर अधर से हँसना
बिछुए जितनी दूर कुंआरे पाँव से
उतनी दूर पिया तुम मेरे गाँव से ।

इस गीत के उपरान्त कुँअर बेचैन इतने प्रसिद्ध हुए कि उनके गीत नवगीत, धर्मयुग, हिन्दुस्तान आदि ख्यातिमान पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे और कवि की काव्य-यात्रा निरन्तर विकसित होती रही ।

बहुआयामी प्रतिभा के धनी कुँअर बेचैन ने गीत-नवगीत, ग़ज़ल, कविता, उपन्यास और समीक्षात्मक साहित्य का सृजन किया, जिसका क्रम से यहाँ उल्लेख किया जा रहा है ।

क. गीत-नवगीत कृतियाँ :

1. पिन बहुत सारे, सन् 1972 ई. : 2. भीतर साँकल, बाहर साँकल, सन् 1978ई.

3. उर्वशी हो तुम, सन् 1987 ई. : 4. झुलसो मत मोरपंख : सन् 1990 ई.

5. एक दीप चौमुखी, सन् 1997 ई.

ख. ग़ज़ल-संग्रह

1. एक महावर इन्तजारों का, सन् 1983 ई : 2. शामियाँने काँच के, सन् 1983 ई.

3. रस्सियाँ पानी की, सन् 1987 ई. : 4. पत्थर की बाँसुरी, सन् 1990 ई.

5. दीवारों पर दस्तक सन् 1991 ई. : 6. नाव बनता हुआ कागज, सन् 1992ई.

7. आग पर कंदील : सन् 1993 ई. : 8. आँधियों में पेड़ सन् 1997 ई.

9. आठ स्वरों की बाँसुरी, सन् 1997 ई. :10. आँगन की अलगनी, सन् 1997 ई.

11. तो सुबह हो, सन् 2001 ई.

ग. कविता-संग्रह

1. शब्द एक लालटेन, सन् 1998 ई. : 2. नदी तुम रुक क्यों गई, सन् 1996 ई.

घ. उपन्यास

मरकत द्वीप की नीलमणि, सन् 1996 ई.

ड़. सैद्धान्तिक पुस्तक

ग़ज़ल का व्याकरण, सन् 1996 ई.

पुरस्कार :

कवि कुँअर बचैन को राष्ट्रीय-स्तर के कई पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं । अखिल भारतीय कादम्बनी गीत प्रतियोगिता में द्वितीय, बाहर साँकल और भीतर साँकल गीत-संग्रह पर राष्ट्रीय आत्मा पुरस्कार से सम्मानित किये जा चुके हैं । कुँअर बेचैन को काव्य-रचना एवं पुरस्कार समिति द्वारा राशि 5,100 । कुँअर बेचैन को हिन्दी साहित्य एवार्ड, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री रोमेश भण्डारी द्वारा उन्हें सम्मानित किया जा चुका है । इस पुरस्कार में उन्हें नगद राशि 25,000 रुपये और प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया गया।

कुँअर बेचैन हिन्दी के ऐसे ग़ज़लकार और गीतकार हैं, जिन्होंने काव्य-सृजन के माध्यम से हिन्दी के प्रचार-प्रसार में सर्वाधिक योगदान दिया है । यही नहीं उन्होंने विदेश में जाकर वहाँ के नागरिकों के हिन्दी साहित्य की गरिमा में भी अभिवृद्धि की । हिन्दी साहित्य में उनका प्रदेय होने की कारण वे सदैव स्मरण किए जाते रहेंगे । यह देश के लिए गौरव की बात है।

ज़हीर कुरेशी :

सत्तर के दशक में दुष्यन्त कुमार की नई भाव-भूमि की ग़ज़लों के विस्फोट के साथ ही हिन्दी-साहित्य में हिन्दी स्वभाव की ग़ज़लों का माहौल निर्मित हुआ । दुष्यन्त कुमार की ग़ज़लों में नयी भाव-भूमि, आम-आदमी की पीड़ा और सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक विसंगतियों के रूप में यथार्थ में अभिव्यक्त होने लगी, उसी के साथ हिन्दी के गीतकारों में भी नयी भाव-भूमि से संपृक्त भावनाओं और विचारों को प्रकट करने की दौड़ लग गई । जिन

गीतकारों पर नयी भाव-भूमि ग़ज़ल के रूप में प्रभाव पड़ने लगा, उनमें से एक ज़हीर कुरेशी भी हैं । किन्तु ज़हीर कुरेशी की दो तीन ग़ज़लों की भाषा को छोड़कर, अधिकांश ग़ज़लें हिन्दी ग़ज़लों के रूप में स्वीकार नहीं कर पाई हैं - ऐसा ज़हीर कुरेशी का मानना है । हिन्दी ग़ज़ल में ज़हीर कुरेशी का महनीय स्थान है । इनका जन्म मध्य प्रदेश प्रान्त के चन्देरी नामक कस्बे में एक मुस्लिम परिवार में 5 अगस्त 1950 ई. में हुआ था । इनके वालिद का नाम शेख नज़ीर मुहम्मद था । ज़हीर कुरेशी का जन्म स्थान चन्देरी साड़ी के नाम से भारतवर्ष में बहुत प्रसिद्ध है । चन्देरी इस लघु उद्योग में देश में प्रमुख स्थान रखता है ।

परिवार-जन :

ज़हीर कुरेशी के पिता का नाम शेख नज़ीर मोहम्मद कुरेशी था । वे उस समय कस्टम में नाकेदार के पद पर कार्यरत थे । शेख नज़ीर धर्म का पालन सख्ती से करने वाले व्यक्तियों में से थे । ज़हीर की माता का नाम श्रीमति मासूमा बेगम था । उनकी माता कम पढ़ी लिखी थीं, किन्तु बुद्धि से कुशाग्र थीं । ज़हीर के पिता कैंसर से पीड़ित थे । पिता की मृत्यु के समय ज़हीर कुरेशी की अवस्था छह वर्ष की थी । इस समय उनकी माँ की अवस्था मात्र तैंतीस वर्ष थी । ज़हीर की माता ने अपने अथक श्रम और मेहनत से पुत्र का लालन-पालन किया था । वे आज भी हैं । उनकी उम्र वर्तमान में 87 वर्ष है ।

शायर का नाम और उपनाम :

ज़हीर कुरेशी का पूरा नाम ज़हीर मोहम्मद कुरेशी है । साहित्य में प्रवेश करने के साथ वे ज़हीर कुरेशी हो गए । आज से चालीस वर्ष पहले जब ज़हीर कुरेशी ने लिखना प्रारंभ किया था, तब कवि के उपनाम के बिना

कवि अपूर्ण ही माना जाता था । उस समय काव्य में कवि के उपनाम का बड़ा महत्व था । इसलिए शायर बड़े भाई कादिर कुरेशी ने उनका उपनाम 'शाद' रख दिया । यह घटना सन् 1965-66 ई. की है । किन्तु सन् 1967ई. में लक्ष्मीनारायण 'शोभन' ने ज़हीर कुरेशी 'शाद' से 'मयंक' रख दिया । इस प्रकार सन् 1967 ई. में शायर ज़हीर कुरेशी 'शाद' से 'मयंक' हो गए । किन्तु ज़हीर कुरेशी अपने दोनों ही नामों से संतुष्ट नहीं थे । फलतः 1971 ई. में ज़हीर कुरेशी ने यह तय किया कि वे उपनाम के बन्धन में नहीं रहेंगे और परम्परा को तोड़कर उन्होंने नई परम्परा का प्रारंभ किया । ऐसा कार्य साहसी ही कर सकते हैं । इसके उपरान्त ज़हीर का जहाँ भी साहित्य प्रकाशित हुआ, वहाँ उनका नाम मात्र ज़हीर कुरेशी ही रहा । आज भी उसी नाम से उनकी ग़ज़लों का प्रकाशन हो रहा है ।

शिक्षा-दीक्षा :

ज़हीर कुरेशी की शिक्षा का आरंभ घर से ही हुआ । उनकी माँ श्रीमती मासूमा बेगम ने शुरूआती तौर पर अरबी, उर्दू और हिन्दी का घर पर ही अक्षर ज्ञान दिया । पाँच वर्ष की अवस्था में हिन्दी की विधिवत् शिक्षा ज़हीर ने प्राथमिक पाठशाला चन्देरी में प्राप्त की । मध्य प्रदेश की हाईस्कूल परीक्षा में उन्हें 75% अंक प्राप्त हुए तथा हायर सेकेण्डरी परीक्षा में भी उन्हें 73% अंक प्राप्त हुए । डॉक्टरी के उद्देश्य की पूर्ति के लिए इण्टर की परीक्षा पास होने के लिए उन्हें कड़ी मेहनत की । उन्होंने सभी विषयों की परीक्षा दीं किन्तु अग्रिम प्रश्न-पत्र जूलॉजी प्रथम में परीक्षा देते समय उन्हें एक सौ तीन डिग्री बुखार हो जाने के कारण वे परीक्षा कक्ष में ही अचेत हो गए और गिर पड़े । इस कारण से वे पहला और दूसरा जूलॉजी का प्रश्न-पत्र नहीं दे सके । अन्तिम छात्र से पाँच प्रतिशत के अन्तर के कारण उनका चयन

डॉक्टरी के लिए नहीं हो सका । इण्टर परीक्षा पास करने के बाद उनींदे मन से ज़हीर जी ने बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की ।

विवाह और सन्तान :

10 दिसम्बर 1975 को ज़हीर कुरेशी का विवाह सुश्री सबिया खान से हुआ । इस प्रकार राबिया खान श्रीमती राबिया कुरेशी बनी । विवाह के दो वर्ष उपरान्त ज़हीर और राबिया ग्वालियर आ गए । विवाह के एक वरष दो माह बाद ज़हीर-राबिया के घर आँगन में समीर पुत्र का पदार्पण हुआ और घर चहचहाट से गूँज उठा । पुत्र जन्म के दो वर्ष बाद 18 फरवरी 1978 को पुत्री का जन्म हुआ । उन्होंने पुत्री का नाम तबस्सुम रखा ।

नौकरी :

डॉक्टर न बन पाने के उपरान्त ज़हीर ने भोपाल से स्नातक की उपाधि प्राप्त की । इसी समय उन्होंने भारतीय डाक तार विभाग में लिपिक पद की नौकरी कर ली । इस नौकरी से पहले से ही ज़हीर के नवगीत धर्मयुग, सारिका, कादम्बिनी, साप्ताहिक हिन्दुस्तान जैसी प्रथम श्रेणी की पत्रिकाओं में छपने लगे थे । इसके बाद उनकी पदोन्नति होती रही । लिपिक के अनुभाग पर्यवेक्षक तत्पश्चात् मुख्य अनुभाग पर्यवेक्षक तक की पदोन्नतियाँ उन्हें प्राप्त हुई । सम्प्रति ज़हीर कुरेशी शाखा दूरसंचार प्रशिक्षण केन्द्र, ग्वालियर के रूप में कार्यरत हैं ।

व्यक्तित्व :

यह सत्य है कि रचनाकार का व्यक्तित्व उसकी रचनाओं के माध्यम से व्यक्त होता है, किन्तु उसके उपरान्त भी ज़हीर कुरेशी के व्यक्तित्व के बहुत से ऐसे पक्ष हैं, जिनका प्रकाशन कृतियों द्वारा नहीं हो पाता । अतः

रचनाकार के जीवन-दर्शन को समझने के लिए हमें उनके जीवन-क्रम और उनकी विशिष्ट घटनाओं पर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है, तब ही उनके कृतित्व का मूल्याँकन किया जा सकता है । चन्देरी कस्बे में जन्म और लालन-पालन, अध्ययन आदि होने के कारण उन पर वहाँ के परिवेश का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । कवि को बचपन से बहुत सी, गरीबी के कारण कटिनाइयों का सामना करना पड़ा । इसके साथ चन्देरी में साड़ी बनाने वाले कामगारों की दयनीय स्थिति को भी निकट से देखने का अवसर प्राप्त हुआ और उनके प्रति दया, करुणा का भाव उनके मन को भीतर-ही-भीतर प्रभावित करता रहा है । अत: उनके प्रति ज़हीर का संवेदनात्मक-भाव होना स्वाभाविक ही है ।

कुल मिलाकर ज़हीर कुरेशी का अपना जीवन संतोषप्रद है । वे आज भी निरन्तर ग़ज़लों का सृजन कर रहे हैं । उनके साहित्यिक जीवन का हिन्दी ग़ज़ल-साहित्य में विशेष महत्व है और उनका नाम लिए बिना हिन्दी ग़ज़ल अधूरी है ।

आप की ग़ज़लों में आम आदमी का संघर्ष को स्पष्ट किया गया है ।

"घर के अन्दर देख कर या घर के बाहर देखकर
थक गया है आदमी खुद को निरन्तर देख कर"

संकल्पनाएँ टूट रही हैं, प्राथमिकताएँ बदल रही हैं । आभासों और अटकलों का बाजार गर्म है । कोई हडबडी में दौडता हुआ कह रहा है कि अनुभवों का इतिहास दोबारा लिखा जा रहा है ।

"अनुभवों की पाठशाा ने सिखाया है बहुत
जो सिखाया है, वो मेरे काम आया है बहुत"

जहीर कुरैशी जी समाज में जो कुछ देखत, सुनते और अनुभव करते हैं, उससे ही उनके मानस पटल पर बहुरंगी चित्र उभर कर आये हैं ।

"हैं थके-सोए हुए ये लोग
आत्म-शव ढोए हुए ये लोग
ओढ़ लेते हैं सुबह मुस्कान
रात भर रोए हुए ये लोग"

स्वार्थगत राजनीति के कारण जो अव्यवस्था मानव समाज में फैली हुई हैं, भ्रष्ट राजनीति जो निरीह मानव-जन का शोषण करती है उसके श्रम, उसकी पूँजी, उसके अधिकारों का अवमूल्यन करती है या भ्रष्ट व्यवस्था उस आदमी के कंधों पर पर चढक़र किस प्रकार फल-फूल रही है उसका विर्णन किया गया है –

"बातों से सिर्फ़ बातों से ऐसा किया गया
लोगों के सामने उसे नंगा किया गया
इस राजनीति द्वारा महज़ वोट के लिए
जलते हए सवालों को पैदा किया गया
वो भीख माँगता ही नहीं था इसीलिए
उस फूल जैसे बच्चे को अंधा किया गया"

'लेखनी के स्वप्न', 'एक टुकड़ा धूप', 'चाँदनी का दुख', 'समंदर ब्याहने आया नहीं है', 'भीड में सबसे अलग' आपके ग़ज़ल संग्रह हैं ।

रामकुमार कृषक :

आपका जन्म 1 अक्तूबर, 1943 में उत्तर प्रदेश में हुआ । 'नील की पत्तियाँ' ग़ज़ल संग्रह एवं एक दर्जन से अधिक पुस्तकें आप की प्रकाशित हैं । आपके ग़ज़लों में मानवीय जीवन की संवेदना और सहानुभूति मिलती है ।

"राह चलते ही नहीं वारदात और हुई
एक लम्हे की जनी इस जमात और हुई
हमने माना हरेक शख्स आदमी है, मगर
आप कुछ और अगर हों तो बात और हुई"

कृषक जी की ग़ज़लें जिन्दगी का आईना है । जो मानव का प्रतिबिम्ब ही नहीं बल्कि आर-पार भी दिखाता है । आप कहते हैं –

"वक़्त है वक़्त की तेज़ रफ्तार है
जो नहीं चल रहा वो गुनहगार है
वक़्त को काटना क्या हँसी-खेल है
वक़्त तो खुद-ब-खुद एक तलवार है

आपकी ग़ज़लों में वक़्त के महत्व को दर्शाया गया है । राजनीति, भ्रष्टाचार के बारे में वह कहते हैं –

"रोटियाँ का मुद्दा दिल्ली में सुलझेगा नहीं
और भूखा इस बहस में और उलझेगा नहीं
भूख दिल्ली ने बढ़ायी और दिल्ली भूख ने
इस सच्चाई को मगर इतिहास उठा लेगा नहीं

टोपियों के दंगलों में तो लँगोरी भी गयी
हादसा इससे बड़ा अभ और गुज़रेगा नहीं"

कृषक जी अपनी ग़ज़लों में यथार्थ से भीतर की प्रेरणा शक्ति को गतिमान बनाते हुए आस-पास के यथार्थ की व्याख्या करता है ।

"घेर कर आकाश उनको पर दिए होंगे
रातों पर दस्तखत यों कर दिए होंगे
तोंद के गोदाम कर लबरेज़ पहले
वायदों से पेट खाली भर दिये होंगे
सिल्क खादी और आज़ादी पहनकर
कुछ बुत्तों को चीथेड़े सी कर दिए होंगे"

रामकुमार कृषक जी 'प्रकाश वीर शास्त्री पुर्साकर', हिन्दी अकादमी दिल्ली 'सरस्वत सम्मान' तथा 'इंडोएशियन लिटरेरीक्लब' सहित अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित किये गये हैं ।

रामकुमार कृषक जी ने ग़ज़लों को एक नई चेतना के साथ जोड़ा है । आज के युग की समस्याओं और उसके समाधान के साथ जोड़ा है ।

"हो गए हैं एक सच उधड़ा हुआ हम आजकल
चाहतों में हैं मगर स्वीकार नहीं हैं"

शगुफ़्ता ग़ज़ल :

शगुफ़्ता जी का जन्म 10 जनवरी, 1959 को बरेली, उत्तर प्रदेश में हुआ । आपकी ग़ज़लें सामाजिक रिश्तों से जुड़ी अपने लेखन के पड़ाव की नई यात्रा से गुज़र रही है ।

"दिल में तूफ़ाँ क्यूँ उठता है वह जाने या मैं जानूँ
परवाना क्यूँ जल जाता है वह जाने या मैं जानूँ"

शगुफ़्ता जी की ग़ज़लों में सामाजिक रिश्तों और उसके सरोकारों में सामाजिक रिश्तों और उसके सरोकारों का ही दस्तावेज़ है । ग़ज़ल में हृदय की अनुभूति है । संसार में फूलों के साथ काँटे भी है, सुख के साथ दुख भी है, संयोग के साथ वियोग भी है, आशा के साथ निराशा भी है । जीवन इन विषमताओं के सामन्जस्य का नाम है ।

"उदास चाँदनी खामोश कहकशाँ क्यूँ है
फ़लक नशीनों का माहौल बेज़नाँ क्यूँ है
बिखर गई थी मेरी जिन्दगी ख़लाओं में
समेटती हूँ तो नाराज़ यह जहाँ क्यूँ है
न तू है चाँद फ़लक का न मैं ही सूरज हूँ
तो फ़ासला यह तेरे-मेरे दरमियाँ क्यूँ है"

मुख कमल उसके पावन तन की अलौकिक रूप, माधुरी का वर्णन ग़ज़लकार ने किया है । मानव समाज की ओर दृष्टिपात करने पर यहाँ गहरी विषमता दिखाई पड़ती है ।

"एक चेहरा गुलाब जैसा है

वह मुकम्मल शबाब जैसा है

देखकर उसको बेखुदी छाए

हू-ब-हू वो शराब जैसा है

गुनगुनाहट है उसकी बातों में

और लहजा खाब जैसा है"

जिन्दगी में आदमी के लिये ग़म भी जरूरी है । अपने लिये तो सब कोई जीते हैं किन्तु दूसरों के लिये मर-मिटना बहुत बड़ी बात है । अपनी यातनाओं का खुल कर बयान करती है –

"जब्त लाज़िम है आदमी के लिए

ग़म जरूरी है जिन्दगी के लिए

हम हक़ीक़त-शनास हैं साकी

क्यूँ बुलाता है भयकशी के लिए

नम गुलाबों की पत्तियाँ क्यूँ है

कौन रोया है अजनबी के लिए"

मानव यदि चाहता है तो सुख और आनन्द से जी सकता है । प्रेम से सब को जीत सकता है –

"फ़ासले दिल के मिटाकर देखिए

ग़ैर को अपना बनाकर देखिए

ख़ुद-ब-ख़ुद महका करेगी जिन्दगी

प्यार का बूटा लगाकर देखिए

वादियाँ सैराब होंगी हुस्न की

इश्क़ का दरिया बहाकर देखिए"

शगुफ़्ता जी एम.ए. उर्दू में करने के कारण उर्दू भाषा पर अपूर्व अधिकार है । उनकी ग़ज़लें हिन्दी-उर्दू परंपरा की ग़ज़लें हैं । इनमें उर्दू शब्दों का प्रयोग बड़ी संख्या में हुआ है ।

"उफ़क़ के पार नहीं है जो कोई राज ग़ज़ल

झुका-झुका सा यह धरती पे आसमाँ क्यूँ है"

निदा फ़ाजली :

भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति में भारतीय भाषाओं के साहित्यों का भी बड़ा योगदान है, विशेषकर हन्दी-उर्दू के साहित्यों का साहित्य समाज और जीवन का दर्पण है । समाज की बदलती मन:स्थितियाँ उसमें प्रतिबिम्बित होती है । प्राचीन काल से ही हिन्दू और मुसलमान शायरों ने देश की एकता, अखण्डता एवं स्वतंत्रता के लिए एक होकर कार्य किया है ।

निदा उर्दू की ही नहीं एशिया की अदवी ज़वानों की समकालीन आवाज़ें हैं। निदा फ़ाज़ली तीन शहरों का बेटा कहलाने के हक़दार है । एक है गालिब और मीर की दिल्ली, दूसरा है तानसेन और उनके मेघ मल्टार तथा दीपक राग को साँसों में संजोये ग्वालियर और तीसरा है सितारों की महफलि सजाने वाले हीरों और मोतियों की फिल्म नगरी मुम्बई। तीनों ऐतिहासिक महानगरों ने निदा फ़ाज़ली के गद्य और पद्य को लहक, महक और स्वस्ताल दिया है ।

अगर निदा की आँख से ही दुनिया को देखा जाये तो वह एक शीशों का घर है जिसकी दीवारों में भी सूरतें नज़र आती हैं ।

आँख हो तो आईनाखाना है दहर

मुँह नज़र आते हैं दीवारों के बीच ।"

निदा फ़ाज़ली की ग़ज़लों में अनेक रूपता मिलती है । निदा फुरसत में कहते हैं –

'मैं नही समझ पाया आज तक इस उलझन को

खून में हरासत भी या तेरी मुहब्बत थी

कैसे हो कि लैला हो, हीर हो कि रांझा हो

बात सिर्फ इतनी है आदमी को फुरसत थी ।'

निदा फ़ाजली के विचारों में नीरसता तथा दुरूहता का अभाव है । उनको ग़ज़लों में चिन्तन का अत्यन्त रसमय स्वरूप दिखाई देता है, वे कहते हैं –

"कभी-कभी यूँ भी हमने अपने जी को बहलाया है

जिन बातों को खुद नहीं समझें, औरों को समझाया है ।"

मीरो-ग़ालिब के शेरों ने किसका साथ निभाया है

सस्ते गीतों को लिख-लिख कर, हमने घर बनवाया है ।

'क़ौमी अकता' में निदा बच्चन की 'मधुशाला' की तरह एक वेश्या का चित्रण करते हुये कहते हैं –

कभी किसी को मुकम्मल जहाँ नहीं मिलता

कहीं ज़मीं तो कहीं आस्माँ नहीं मिलता ।

बुझा सका है भला कौन वक़्त के शौले,

ये ऐसी आग है जिसमें धुआँ नहीं मिलता ।

निदा जब कहने पे आते हैं तो लफ्जों का ऐसा खूबसूरत वितान तानते हैं कि नागवार लगने वाली बात भी उनके नीचे से चुपचाप बेपर्द होकर बेखटक निकल जाती है –

"कभी-कभी यूँ भी हमने, अपने जी को बहलाया है,
जिन बातों को खुद नहीं समझे, औरों को समझाया है ।"

डॉ. उर्मिलेश :

डॉ. उर्मिलेश का जन्म 6 जुलाई 1951 में उ.प्र. में हुआ । आप हिन्दी में एम.ए. और पी.एच.डी. की डिग्री प्राप्त की । आप नवगीत के साथ-साथ हिन्दी ग़ज़ल के क्षेत्र में भी मंज एवं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अपना स्थान बनाया है । उन्होंने जीवन और जगत को केवल दार्शनिक की भाँति देखा ही नहीं है, अपितु उस आग की नदी में कुशलता से नहाया भी है । वे कहते हैं–

"पहले पता करो कि शुरुआत किसने की
फिर तय करो कि ऐसी खुराफ़ात किसने की
नज़रें धुआँ-धुआँ हैं, नज़ारें धुआँ-धुआँ
मैं पूछता हूँ दिन में यहाँ रात किसने की"

उन्होंने ग़ज़लों के माध्यम से वर्मतमान परिवेश का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है ।

उर्मिलेश हतप्रभ है । वह ज़मीन की पर्त पर काम लगाये, आने वाले मौसम को पढ़ना चाहता है । कभी हैरानी और कभी परेशानी में वह पिछले समय की ओर ताकता है –

"पहले पता करो कि शुरूआत किसने की

फिर तय करो कि ऐसी ख़ुराफत किसने की
नज़रें धुआँ-धुआँ हैं नज़ारें धुआँ-धुआँ
मैं पूछता हूँ दिन में यहाँ रात किसने की ।"
इस शहर के सब लोग जो आशिक़ मिजाज थे
नफ़रत से भरी फिर ये करामात किसने की ।

नूतन कपूर :

आपका जन्म 7 मार्च, 1959 दिल्ली में हुआ । आपकी ग़ज़लें आम आदमी की पीड़ा से जुडी हुई है । आदमी के संघर्ष को वह पहचानती है । वह कहती हैं कि साजिश रची जा रही है ख़त्म करने की । आस-पास के माहौल का वर्णन करते हुये कहती हैं –

"साज़िशें हैं मुझे मिटाने की
ये बड़ी भूल है ज़माने की
आइना तोड़ने से क्या होगा
सोच, दीवार को गिराने की
धूप तो शाम तलक मर लेगी
ऐसी-तैसी हो शामियाने की

आपने जीवन के बहुविध पक्षों का भी मार्मिक अंकन किया है । जीवन के विविध पक्षों का इसमें मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है ।

"मोटर के धुँओ ने कई अफ़साने गढ़े हैं
हम हैं कि सड़क पर किसी पत्थर से पड़े हैं
तुम खुद ही समझ लो कि हैं खुद्दार कहाँ तक

अपने से भी झुंझला के कई बार अड़े हैं

सौ हाथ हैं उस ओर, उठाए हुए पत्थर

हम काँच की दहलीज़ पे चुपचाप खड़े हैं"

कपूर इतनी जागरूक है कि अपने परिवेश का पूरा-पूरा ध्यान रखती है । वे कहती है –

"कभी जंगलों, कभी पर्वतों, कभी सागरों के निकट गई

हूँ अब ऐसी बोगी उजाड़ में, वो जो चलती गाड़ी से कट गई"

नूतन कपूर ने अपनी ग़ज़लों के माध्यम से वर्तमान के दृश्यों को बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है -

"काट देती है ज़िगर हीरे का

फूल की पँखुड़ी कों कम है"

नूतन जी अपनी मौलिकता को पूरी शिद्धत के साथ व्यक्त किया है । उसके पास कोई मुखौटा नहीं है और वर पारदर्शी है । जिससे असलियत को वह कभी छुपा नहीं पाती ।

"बड़ी छल-कपट में महान भी, बड़ी आन-बान भी, शान भी

वो जुबान एक दुकान थी, जो वचन से अपने पलट गई"

आपके हृदय में किस्सों और सपनों के कितने मुख्तलिफ रूप मिलते हैं –

"कोई फूल तक तो झड़ा नहीं, कोई द्वार पर भी खड़ा नहीं

तेरा स्वप्न मैंने गढ़ा नहीं, मेरी नींद कैसे उचट गई"

नूतन कपूर की ग़ज़लों में वास्तविकता है । दर्द की सही अनुभूति आप में है जो सम्पूर्ण ग़ज़लों में दृष्टिगोचर होती है ।

सरिता अपराजिता :

आपका जन्म 6 नवम्बर, 1955 में हुआ । 'न बीस न उन्नीस ग़ज़लें' आपकी ग़ज़ल संग्रह है ।

इंसानी रिश्ते, इंसानी दर्द और इंसानी हमदर्दी आप में कूट-कूट कर भरी हुई है । आपकी ग़ज़लों में विद्रोह है तो पीड़ा भी है ।

"ज़ख्म पर शब्दों का मरहम यूँ लगाये आप हैं
आदमी को हर समय उल्लू बनाते आप हैं"

दर्द ही आपकी धरोहर है । आपकी ग़ज़लें सुख की चरम सीमा तक ले जायेगी और निराशा की गहरी गर्त में भी धकेल देगी –

"नाचता कब तक रहेगा शीश पर खंजर कहो
देखते कब तक रहोगे मातमी मंज़र कहो
इस भयावह खेल को कैसे बढ़ावा दे रहा
काँपता क्या रूह नहीं यह देखकर थर-थर कहो"

अपने चारों ओर घटती घटनाओं, षडयंत्रों के बुने जाते जालों व जन सामान्य की दैनंदिन लडाई से भलीभाँति परिचित है ।

"त्रासदी का नाच नंगा हो रहा है जो इस तरह
आजकल की क्या व्यवस्था हो गई जर्जर कहो
आदमी की दुर्दशा से क्या नहीं सिहरन हुआ

भावना निर्जीव है या हो गई पत्थर कहो"

सरिता जी इस दुनिया को खोलती है और एक दूसरी दुनिया बन जाती है, वह आदमी को अकेला करती है और उसे दूसरों से जोड़ती है, वह शून्य के प्रति एक प्रार्थना और अनुपस्थित के साथ एक संवाद है ।

"आबरू को दाव पर रखने चली है आरती
आग है यह पेट की जलने चली है आरती
खेत में जब काम करती घूरती आँखें बहुत
रोटियों के वास्ते मरने चली है आरती"

सरिता जी धैर्य और संयम से सारी चीजों को देखती और परखती है।

"ले विदाई चली है पुरानी सदी
छोड़कर जा रही कुछ कहानी सदी
तोड़ दी है गुलामी की ज़ंजीर भी
ले गई लाख खिलती जवानी सदी"

सरिता जी को अनेक प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्थाओं द्वारा सम्मानित व पुरस्कृत किया गया है । आपकी ग़ज़लें चारों ओर के माहौल और स्थितियों का बयान है ।

मुनव्वर राना :

उर्दू शायरी में ग़ज़ल को नयी आवाज़ देने वाले नामों में मुनव्वर राना का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है । इनकी शायरी में आम आदमी का खुद एवं पीड़ा का चित्रण बडे पैमाने पर मिलता है । राना साहब की

ग़ज़लों में टूटते रिश्तों का दर्द, गाँव की महक, किसानों का दर्द, माँ का प्रेम भरा आँचल, बुजुर्गों की यादें, बचपन के दिन, मजदूरों की पीड़ा, राजनीतिक विद्रोह, समाज में बढ़ती जातियता की दीवारें और गरीब की पीड़ा का वास्तविक चित्रण हुआ है । राना साहब की ग़ज़लें मनुष्य के जीवन से जुड़कर हैं, ग़ज़लकार ने जो देखा, भोगा उसी पीड़ा को उन्होंने अपनी शायरी के माध्यम से वाणी दी ।

आज राजनीति और राजनेताओं के दोहरी चालों के कारण सामाजिक परिवेश में मैलापन दिखाई देता है । गंदी राजनीति के कारण आपसी रिश्ते टूटते दिखाई दे रहे हैं, धर्म एवं जातियों में आपसी वैमनस्य छा गया है । इस परिस्थिति में राना साहब की शायरी जानदार बनती है । आज राजनीति गुंड़ों और मवालियों के हाथों से चल रही है, या यूँ कहें कि गुंडों और मवालियों को राजनीति तथा राजनेता आश्रय दे रहे हैं, इसमें गुंड़ों का दोष नहीं बल्कि सत्ता पर बैठे राजनेता कसुरवार हैं, इसी संदर्भ में मुनव्वर राना की हुंकार है –

"अना को मोहनी सूरत बिगाड देती है
बडे-बड़ों को जरूरत बिगाड देती है
किसी भी शहर के कातिल बुरे नहीं होते
दुलार करके हुकूमत बिगाड देती है"[220]

सत्ता में बैठ हुए सत्ताधीशों ने मवालियों को आश्रय दिया हुआ है, इन मवालियों को मवाली बनाने में व्यवस्था का ही हात है, वरना कोई भी कातिल बुरा नहीं होता, व्यवस्था अपने निजी स्वार्थ के लिए इनका दुलार करती है । परिणामत: छोटा-सा मवाली, गुंडाघून का सौदागर बनता है ।

आज राजनेता सत्ता पाने की होड़ में है, इसीकारण राजनेताओं का चलन, व्यवहार दोगली प्रवृत्ति का हो गया है । एक ओर तो रिश्ता जोड़ना तथा दूसरी ओर उसे बनाए हुए रिश्ते को तोड़ देने का काम इन सफेदपोशों का है –

"सियासी ईंट से रिश्तों की दीवारें बनाता था

मुब्बत की कसम खाता था तलवारें बनाता था ।"[221]

सरकार की दोगली प्रवृत्ति के कारण जनता पीड़ित है, शायर यहाँ जनता को सियासी लोगों की प्रवृत्ति से परिचय करवा रहा है, क्योंकि शायर जानता है, गर इन्कलाब होगा तो न शासन-व्यवस्था बिखरेगी बल्कि शासकों का भी पतन होगा, इसलिए शायर व्यवस्था को संकेत दे रहा है कि वह जनता की भावनाओं से न खेले, क्योंकि शायर ने जनता की आँखों में क्रांति की चिंगारी देखी ैह, एक गलत कदम से यह चिंगारी मशाल बन जाएगी । इसी संदर्भ में शायर राजनेताओं को दुत्कारते हुए कहता है –

"एक आँसू भी हुकूमत के लिए खतरा है ।

तुमने देखा नहीं आँखों का समन्दर होना ।"[222]

शासक एवं शासन व्यवस्था के प्रति शायर के मन में खीज है, जहाँ शांति निवास करती थी, उसी मुल्क में आज सर्वत्र हो-हाकर है, इस हा-हाकार के मूल में व्यवस्था ही है, क्योंकि व्यवस्था, लोगों का बटा और बिखरापन चाहती है, इसी कारण सत्ता प्राप्त करने के लिए लोगों को आपस में लढ़वाने का काम भी इसी व्यवस्था का है, शायर यहाँ व्यवस्था की पोल खोल रहा है –

"जीतने भी घर जले हैं तेरे हुक्म पर जले ।

जो भी सितम हुआ है, तेरे नाम पर हुआ ।"[223]

सब कुछ करने के बाद भी, शासन व्यवस्था कुछ भी नहीं किया ऐसा दिखाने का प्रयास करती है ।

"सियासत किस हुनरमन्दी से सच्चाई छुपाती है ।

कि जैसे सिसकियों के जख्म शहनाई छुपाती है ।"[224]

आज इसी सियासत ने अनेक समस्याओं का निर्माण किया है, उसमें प्रमुख दहशतगर्द की समस्या है । आज एक जाति दूसरी जाति को शक की निगाह से देख रही है, दहशतगर्द और इस्लाम को जोड़कर देखा जा रहा है, शायर इसके मूल में सियासत को ही दोषी मानता है –

"मैं दहशतगर्द था मरने पे बेटा बोल सकता है

हुकूमत के इशारे पर तो मुर्दा बोल सकता है,

हुकूमत की तवज्जो चाहती है हर जली बस्ती,

अदालत पूछना चाहे तो मलबा बोल सकता है ।"[225]

राजनीति के कारण दहशतगर्द की समस्या जटिल बनती जा रही है । व्यवस्था तथा मीडिया भी आज मुसलमान और दहशतगर्द को जोड़कर देख रही है, इस परिस्थिति में मुनव्वर राना के शेर शासन व्यवस्था के प्रति विद्रोह कर बैठते हैं ।

यहां पर रानाजी के शेर में राजनीतिक विद्रोह तथा राष्ट्रप्रेम का चित्रण देखने को मिलता है । कट्टरपंथी नेताओं के विरोध में शायर राना के मुखसे राष्ट्रप्रेम की शायरी प्रकट होती है -

"चलो चलते हैं, मिल-जूलकर वतन पर जान देते हैं,

बहुत आसान है कमरे में वन्देमातरम कहना ।"[226]

कट्टर मानसिकता के विरोध में शायर उनके प्रति विद्रोह का रास्ता अपनाता है और इसी विद्रोह में राष्ट्रप्रेम की भावना भी विद्यमान है –

"सरफिरे लोग हमें दुश्मन-ए-जाँ कहते हैं,

हम जो इस मुल्क की मिट्टी को भी माँ कहते हैं ।"[227]

सियासत हिन्दू-मुस्लिम को अलग-अलग कर जनता में बेबनाव लाना चाहती है । लेकिन शायद मुल्क की मिट्टी को माँ कहता है, इसी के माध्यम से पूरे भारतवासी एक कतार में बंध जाते हैं । यहाँ शायर उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से राष्ट्रप्रेम को बढ़ावा देने के पक्ष में है ।

उपर्युक्त ग़ज़ल के माध्यम से यह कहा जा सकता है कि मुनव्वर राना की ग़ज़लों में राजनीतिक विद्रोह है, साथ ही उन की ग़ज़लों में राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रप्रेम विद्यमान है यह उनकी शायरी की जानदारी का सबूत है । इसके साथ ही राना की ग़ज़लों में सन्तों जैसी उदाहरता है और मानवीय दुखों का गहरा बोद भी । यह उदारता और मानवीय दुख इस जन्मभूमि की परम्परा है । इसी जन्मभूमि की मिट्टी से राना साहब को चिंतन की शक्ति और अन्तर्मन को अभिव्यक्त करने का हौसला मिलता है । यह जमीन शहीदों की जमीन है, इसमें त्याग और समर्पण की भावना है, यही त्याग और समर्पण रानाजी की ग़ज़लों में बड़े पैमाने पर है और इसी त्याग और समर्पण के कारण उनके ग़ज़लों में राष्ट्र प्रेम है । उन्हीं के शेर के माध्यम से यहाँ वह राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रप्रेम देखा जा सकता है –

"शहीदों की जमी हैं, जिसे हिन्दुस्ताँ कहते हैं,

ये बंजर होकर भी बुजदिल कभी पैदा नहीं करती ।"

* * * *

उर्दू ग़ज़ल एवं हिन्दी ग़ज़ल : समता एवं विषमता के धरातल

ग़ज़ल मूलतः फ़ारसी में लिखी जाती थी । फ़ारसी से ही ग़ज़ल लिखने का प्रचलन प्रारंभ हुआ । उर्दू में फ़ारसी से ग़ज़ल की यात्रा प्रारंभ होकर उर्दू भाषा तक में आ गई । आज के उर्दू के रचानाकार ग़ज़ल पर्याप्त संख्या में लिख रहे हैं । किन्तु आज इसका प्रचलन हिन्दी में भी पाया जा रहा है । सर्वप्रथम ग़ज़ल के अर्थ को, जो की फ़ारसी भाषा के शब्दार्थ रूप में प्रयुक्त हो रहा है, उसे जान लेने के लिए फ़ारसी की ग़ज़ल प्रवृत्ति को जान लेना आवश्यक है । मुहम्मद मुस्तफ़ा खाँ 'मद्दाल' के 'उर्दू-हिन्दी शब्दकोश में ग़ज़ल के सम्बन्ध में इस प्रकार से अर्थ दिए गए हैं । ग़ज़ेल-अ. स्त्री.-प्रेमिका से वार्तालाप, उर्दू फ़ारसी कविता का एक विशेष प्रकार'[228] इस शब्दार्थ से फ़ारसी ग़ज़ल की प्रकृति का संज्ञान होता है । फ़ारसी ग़ज़ल में मूलतः प्रेमी का प्रेमिका से संवाद होता है । इस यूँ भी कह सकते हैं कि फ़ारसी ग़ज़ल में शायर प्रेमाभिव्यक्ति कर अपनी तड़प, विछोह, आकर्षण आदि को प्रेमिका तक पहुँचाने का यत्न करता है । अनूप ने स्वयं भी लिखा है, जिसका उल्लेख पूर्ववर्ती अध्याय में किया है, कि फ़ारसी ग़ज़ल में प्रेम और हुस्न की मूलतः भावाभिव्यक्ति होती थी । अतः आन्तरिक संवेदना के अनुसार फ़ारसी अथवा उर्दू ग़ज़ल में प्रेम की पीड़ा और रूप के आकर्षण को विशेष रूप से स्थान दिया जाता है ।

इस सम्बन्ध में हिन्दी कोश में भी ग़ज़ल के सम्बन्ध में क्या अर्थ दिए गए हैं, उसको भी जान लेना चाहिए । रामचन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'मानक हिन्दी कोश' दूसरा खण्ड में 'ग़ज़ल' का अर्थ इस प्रकार से दिया गया है –

ग़ज़ल : स्त्री. फ़ा. ग़ज़ल – वह कविता जिसमें नायिका के सौन्दर्य और उसके प्रति प्रेम का वर्णन हो ।[229]

उर्दू कोश में जो अर्थ ग़ज़ल के सम्बन्ध में दिया है, वही अर्थ मानक हिन्दी कोश में भी दिया है । इसके सम्बन्ध में डॉ. वशिष्ठ अनूप के विचार को भी जान लेना आवश्यक है, वह भी इसलिए, क्योंकि वे ओज हिन्दी ग़ज़ल के पैराकर हैं । उन्होंने लिखा है – "......ग़ज़ल अरबी कसीदे की तस्बीब के गर्भ से पैदा होने के लगभग चौदह सौ वर्ष बाद और हिन्दी में लगभग साढ़े सात सौ वर्षों की गौरवशाली यात्रा करने के बाद ओकज जहाँ पहुँचकर हुई है, वहाँ उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति का कथ्य और शिल्प दोनों में काफी परिवर्तन हुआ है । ग़ज़ल अपनी परम्परागत मान्यताओं – हुस्न और इश्क तथा प्रेमी और प्रेमिका के वार्तालाप और प्रेम-निवेदन तक सीमित न रहकर अन्य विधाओं की भाँति जिन्दगी की धड़कनों से स्पन्दित और जीवन-जगत् की जटिल समस्याओं से आँखें चार करनी दिखाई पड़ती है ।"[230] इस कथन से यह तो सिद्ध होता है कि फारसी, अरबी और उर्दू ग़ज़ल में प्रेम और हुस्न की अभिव्यक्ति ही होती थी । इसके अतिरिक्त अन्यान्य जीवन-परक अनुभूतियों को व्यक्त नहीं किया जाता था, न ही शायरों को उनको अभिव्यक्त करने का अधिकार ही प्राप्त था । यानि ग़ज़ल की मूल अनुभूति और संवेदना प्रेम और हुस्न ही था । उसके बाद ग़ज़ल की प्रवृत्ति के बदलाव के सन्दर्भ में पूर्व के अध्याय में विवेचन और विश्लेषण किया जा चुका है । फारसी ग़ज़ल की मूल प्रवृत्ति, संवेदना अथवा अनुभूति पर प्रकाश डालने के बाद उसके छांदसिक स्वरूप पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है । यहाँ भी सर्वप्रथम कोश के अर्थों पर सरसरी दृष्टि डाल लेना आवश्यक है –

उर्दू कोश में ग़ज़ल के बाह्य पक्ष के सम्बन्ध में लिखा है –

ग़ज़ल में प्रायः 5 से 11 शेर होते हैं । सारे शेर एक ही रदीफ़ और क़ाफ़िए में होते हैं, और हर शेर का मजमून अलग होता है, पहले शेर 'मतला' कहलाता है, जिसके दोनों मस्रे सानुपात होते हैं और अन्तिम शेर 'मक्ता' होता है, जिसमें शाइर अपना उपनाम लाता है । ग़ज़ल के संग्रह को 'दीवान' एवं सम्पूर्ण प्रकार के पद्य-संग्रह को 'बयाज' कहते हैं ।[231]

उपर्युक्त आधार पर ग़ज़ल के बाह्य स्वरूप के सम्बन्ध में निम्नलिखित बिन्दुओं को रेखांकित किया है –

1. ग़ज़ल के सिद्धान्त निर्माताओं ने ग़ज़ल में कम-से-कम 5 और अधिक से अधिक 11 शेर होना चाहिए ।
2. सारे शेर में एक ही रदीफ़ और क़ाफ़िर होते हैं ।
3. प्रत्येक शेर का भाव अलग-अलग होता है ।
4. ग़ज़ल में पहला शेर 'मतला' होता है जिसकी दोनों पंक्तियों का अन्तिम शब्द अथवा वर्ण सानुपातिक होता है ।
5. ग़ज़ल का अन्तिम शेर'मक्ता' होता है, जिसमें रचनाकार, शायर का उपनाम होता है ।
6. ग़ज़ल-संग्रह को दीवान कहते हैं ।
7. सम्पूर्ण पद्य संग्रह को 'बज़ाज़' कहते हैं ।

ग़ज़ल का बाह्य रूप शेर को बह्र में गाया जाता है ।

उर्दू और हिन्दी कोश में ग़ज़ल के अर्थ को देने के बाद तथा उसमें पाये जाने वाले आन्तरिक-बाह्य गुणों का क्रम से उल्लेख करने के उपरान्त

फारसी ग़ज़ल के सम्बन्ध में हिन्दी ग़ज़लकार डॉ.कुँअर बेचैन के विचारों से भी अवगत हो जाना चाहिए । उन्होंने ग़ज़ल के सम्बन्ध में लिखा है – "यह सच है कि फ़ारसी में ही ग़ज़ल को अपना स्वतंत्र नाम मिला, फिर भी उसका मूल स्त्रोत अरबी शायरी ही है । अरब के शायर प्राय: अपने बादशाहों को प्रशस्ति में कसीदे लिखते थे, जिसका प्रारंभिक अंश प्रेमपरकता और श्रृंगारिकता के भाव से लबालब भरा होता था । कसीदे के अंश को 'तश्बीब' कहा जाता था ।"[232] इसके आगे भी कुँअर बेचैन ने ग़ज़ल के सम्बन्ध में और लिखते हुए कहा है – "फ़ारसी में 'ग़ज़ल' का शाब्दिक अर्थ है 'औरतों से बात करना' 'वाज़नान गुफ़तू करदन' औरतों की बातचीत एक विषय पर तो होती नहीं वे कई वषयों पर टुकड़े-टुकड़े में बातचीत करती हैं, इसलिए ग़ज़ल में कोई निरन्तर चिन्तन-प्रक्रिया नहीं होती । हर शेर अपने में स्वतंत्र होता है और उसमें एक स्वतंत्र-चिन्तन प्रक्रिया होती है ।"[233] ग़ज़ल के अन्य अर्थ हैं – "जबानी में हाल का बयान करना"[234] एवं "इश्क व जवानी का जिक्र"[235] जवानी एवं इश्क दोनों का ही चिन्तन उद्दण्ड एवं विविध आयामी होता है टुकड़ों-टुकड़ों में बंटा होता है, इस कारण भी ग़ज़ल का प्रत्येक और स्वतंत्र होता है ।[236]

उपर्युक्त कथनों और सूक्तियों के माध्यम से ग़ज़ल के सम्बन्ध में निम्नांकित तत्वों का उद्घाटन किया गया है –

1. फ़ारसी भाषा से ही ग़ज़ल शब्द की उत्पत्ति हुई है ।
2. फ़ारसी से नाम मिलने पर भी उसका मूल स्त्रोत अरबी भाषा में संरचित शायरी ही है ।
3. अरब के शायर अरबी भाषा में ग़ज़ल अर्थात् शायरी के माध्यम से बादशाहों पर कसीदे लिखा करते थे ।

4. अरबी शायरी में लिखे कसीदे के अंश को 'तश्बीब' कहते थे ।

5. फ़ारसी भाषा में ग़ज़ल का शाब्दिक अर्थ है औरतों से बातें करना,

6. औरतें विभिन्न विषयों पर टुकड़े-टुकड़े में बातचीत करती हैं, इसलिए ग़ज़ल के प्रत्येक शेर में अलग-अलग विषय होते हैं, किन्तु इन विषयों का आधार प्रेम और रूप ही विशेष रूप से हुआ करता है । इस आधार पर प्रत्येक शेर स्वतंत्र होता है ।

उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर फ़ारसी ग़ज़ल के माध्यम से, उर्दू ग़ज़ल के कुछ तत्व संवेदनात्मक और शैल्पिक पर स्पष्ट हो जाते हैं, जिनका पूरा ख्याल उर्दू ग़ज़लकार करते हैं । ग़ज़ल के कुछ पारिभाषिक शब्द है, जिनकी प्रवृत्ति का उल्लेख करना विशेष रूप से आवश्यक है ।

1. शेर :

शेर शब्द अरबी का है, जिसका अर्थ है - जनाना, जुल्फ़ अथवा बाल । शेर की विशेषता को इस प्रकार से व्यक्ति किया जा सकता है – यदि ग़ज़ल को सुन्दरी या युवती कहा जाये तो शेर को उसके बाल कह सकते हैं, जो उसकी अर्थात् युवती की सुन्दरता में चार चाँद लगाते हैं । शेर द्विपदीय छंद है, जिसकी तुलना सुन्दरी की दोनों भौहों से की जा सकती है । शेर की पहली पंक्ति 'मिसरए-सानी' कहलाती है । ऊला का अर्थ है पहला और सानी का अर्थ है दूसरा अर्थात् पहली पंक्ति और दूसरी पंक्ति । इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जो इस प्रकार है –

नाला इस ज़ोर से क्यों मेरा दुहाई देता
ऐ फ़लक गर मुझे ऊँचा न सुनाई देता ।[237]

एक और उदाहरण देखिए -

हर साँस एक दिलकश-रंगीन तराना
ऐ काश कभी लौट के आए वो जमाना ।[238]

2. रदीफ़ :

रदीफ़ उस शब्द-समुह को कहते हैं, जो ग़ज़ल की प्रारंभिक दोनों पंक्तियों में सबसे अन्त में आता है और उसके बाद प्रत्येक शेर की दूसरी पंक्ति के अन्त में आता है । इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है –

जान पे खेलता हूँ देख जिगर देखना
जी न रहे या रहे मुझको उधर देखना ।
गर्चे वो खुर्शीद-रू नित है मेरे सामने
जो भी मयस्सर नहीं भर के नज़र देखना ।[239]

ग़ज़ल में रदीफ़ काफी बड़ा हो सकता है । लम्बे रदीफों की रचना करना छोटे रदीफों की अपेक्षा काफी कठिन होता है । एक लम्बे रदीफ़ वाला गहल में मतला देखिए :

तेरे कहने से मैं अज़बस कि बाहर हो नहीं सकता
इरादा सब्र का करता ता हूँ पर हो नहीं सकता ।[240]

उपर्युक्त पंक्तियों में रदीफ़ का प्रयोग किया गया है, जिसका प्रयोग अधिकांश रूप में ग़ज़ल में किया जाता है ।

3. क़ाफ़िया :

क़ाफ़िया का मूलतः अर्थ है तुकान्त । दो पंक्ति या दूसरी और चौथी पंक्ति आदि में शेयर या कविगण तुक का प्रयोग करते हैं । इसके माध्यम से लय उत्पन्न होते हैं, जिसके कारण क़ाफ़िया का प्रयोग किया जाता है । ग़ज़ल में किस प्रकार क़ाफ़िया का प्रयोग किया जाता है, उसे जानने के लिए उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है –

अन्दाज वह ही समझे दिल की आह का
जख्मी जो हो चुका हो किसी की निगाह का
हरचन्द फ़रुख़ में तो हजारों है लज्जतें
लेकिन अजब मज़ा है फ़क़त दिल की चाह का ।[241]

ग़ज़ल के दूसरे शेर से अन्त तक के शेर तक क़ाफ़िया का प्रयोग किया जाता है । इसकी पुष्टि के लिए उर्दू शायर मोमिन का एक और उदाहरण अवलोकनार्थ प्रस्तुत है –

यहाँ से क्या दुनिया से उठ जाऊँ अगर रुकते हैं आप
रुक गया मेरा भी दम क्यों इस क़दर रुकते हैं आप
संगे-दर है इम्तहाँ तासीरे हुस्नो इश्क का
हम इधर रुकते हैं आप और वो उधर रुकते हैं आप ।[242]

4. मतला :

मतला का शाब्दिक अर्थ है 'उदय' । मतला से ग़ज़ल का उदय अर्थात् प्रारंभ होता है । ग़ज़ल के प्रथम शेर को मतला कहते हैं । इस शेर की दोनों पंक्तियों में क़ाफ़िया होता है अर्थात् तुकान्त होता है । दोनों

पंक्तियों में एक से रदीफ़ का उपयोग किया जाता है । इसके लिए भी उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है –

यूँ ही ठहरोगी कि अभी जाइएगा
फिर शिताबी तो भला आइएगा ।[243]

मीर की ग़ज़ल के मतला का उदाहरण अवलोकनीय है –

मौसम-ए-अब्र हो सुबू भी हो
गुल हो गुलशन हो और तू भी हो ।[244]

5. मक़तअ :

मक़तअ ग़ज़ल के अन्तिम शेर को कहते हैं । इसमें शायर अपने नाम का प्रयोग अवश्य करता है । पहले के सभी शायर ग़ज़ल के मक़तअ में अपने नाम का उल्लेख अवश्य करते थे । वर्तमान में शायर इसका प्रयोग करना उचित नहीं समझते हैं । फिर भी जो प्रयोग चाहते हैं वह कर सकते हैं और जो नहीं चाहते हैं वे नाम का प्रयोग नहीं कर सकते हैं । हिन्दी ग़ज़ल में नाम का प्रयोग नहीं करते हैं । उदाहरण प्रस्तुत है –

बचूँ मैं किस तरह ऐ 'दर्द' उसकी तेरो अब्रू से
कि जिसके सामने आ कोई जाबार हो नहीं सकता ।[245]

एक और उदाहरण प्रस्तुत है –

आलमे आब में ज्यू । आईना डूबा ही रहा
तो भी दामन न किया 'दर्द' ने तर पानी में ।[246]

उपर्युक्त दोनों 'मक़तअ' हैं । ग़ज़ल की अन्तिम शेर है, जिसमें शायर का नाम भी दिया गया है ।

6. रूक़्न :

रूक़्न का हिन्दी में अर्थ है पद । उर्दू में छंद के लिए रूक़्न का प्रयोग किया जाता है । यह पद या शब्द है जो किसी बह्र का प्रमुख आधार होता है । ग़ज़लों का बहर में रखने के लिए विभिन्न बह्रों के आधारभूत पदों अर्थात् रूक़्न का प्रयोग किया जाता है । जैसे 'बह्रे रमल' के लिए फाइलालुन नामक रूक़्न निश्चित है । इसी प्रकार बह्रे मुतदारिक के लिए फाइलुन नामक रूक़्न निश्चित है ।

उदाहरण : बह्रे रमल

अपने मन में /ही अचानक /यों सजल हो/ जायेंगे हम
क्या ख़बर था /आप से मिल /कर ग़ज़ल हो /जायेंगे हम[247]

7. अर्कान : सूत्र

छंद के सूत्र को अर्कान कहते हैं । अर्कान रूक़्न का बहुवचन है । रूक़्न के समूह से अर्कान निर्मित होता है । शेर में कितनी बार रूक़्न का प्रयोग हुआ है, इससे ग़ज़ल की बह्र का वास्तविक रूप सामने आता है । तत्सम्बन्ध में उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है –

तुम्हारे /हैं तुमसे /दुआ माँ /गते हैं

उपर्युक्त पंक्ति में चार हिस्सों का प्रमुख रूक़्न 'फऊलुन' है । यह शेर के पहले मिसरे में चार बार प्रयुक्त हुआ है । 'फऊलुन' अपने आप में अकेला एक रूक़्न है, किन्तु चार बार प्रयुक्त हो जाने के कारण जो पंक्ति बनी – 'फऊलुन, फऊलुन, फऊलुन, फऊलुन ।' यह पंक्ति 'बह्रे मुतकारिब' की पहचान हुई क्योंकि 'फऊलुन' बह्रे मुतकारिब का मूल पद अर्थात् प्रधान रूक़्न है ।[248]

8. अज्जाय रूक़्न : लय खण्ड

शेर में शायर जिन रूक़्नों का प्रयोग करता है, उनको हिस्सों में रखा जाता है । इससे एक विशेष प्रकार की लय पैदा हो जाती है । उन हिस्सों के प्रत्येक हिस्से का उज्जाए रूक़्न अर्थात् लय खण्ड कहते हैं । तत्सम्बन्ध में उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जो इस प्रकार से है –

पहला मिसरा - आपके /द्वार को /छोड़कर

(फाइलुन /फाइलुन /फाइलुन)

दूसरा मिसरा - चल दिये /चल दिये /चल दिये

(फाइलुन /फाइलुन /फाइलुन)

9. वज़्न :

ग़ज़ल में मात्राक्रम का भी ध्यान रका जाता है । इस मात्रा क्रम को ही वज़्न कहते हैं । सामान्यता पाठक वज़्न देखते या परीक्षण करते समय मात्रा की ही गिनती करते हैं । लेकिन यह सही नहीं है, क्योंकि मात्रा क्रम की गिनती मात्र वज़्न नहीं है । इसमें दीर्घ मात्रा अर्थात् गुरू के नीचे दीर्घ अर्थात् गुरू और लघु के नीचे लघु । इसको समझने के लिए उदाहरण देखिए -

इस मिसरे में उन्नीस मात्राएँ हैं । इसका आशय यह होता है कि इस मिसरे के उपरान्त के प्रत्येक मिसरे में उन्नीस मात्राएँ होना चाहिए । किन्तु इससे ग़ज़ल में बहर नहीं मानी जावेगी । बहर तभी सही और उचित मानी जावेगी जबकि वज़्न भी बराबर हो । कहने का आशय यह है कि पहले मिसरे में जो भी मात्रा क्रम है वहाँ अन्य सभी मिसरों में भी होना चाहिए । निम्नांकित शेर में लघु के नीचे लघु और गुरू के नीचे गुरू है –

मिसरा ऊला – तुम्हारे पास आना चाहता हूँ

S I S S I S S S I S S

मिसरा सानी – अभी मैं मुस्क राना चाहता हूँ

S I S S I S S S I S S

10. बहर :

जिस प्रकार हिन्दी में छंद होता है, वैसे ही ग़ज़ल में भी बह्र होती है । बह्र का शब्दार्थ है छंद । संस्कृत और हिन्दी में कविता छंदबद्ध होती है, उसी प्रकार ग़ज़ल भी छंदबद्ध होती है । ग़ज़ल में मूलतः सात बारह मिसरे होते हैं ।

उर्दू और हिन्दी ग़ज़ल का अन्तर :

उर्दू ग़ज़ल की यात्रा फ़ारसी-अरबी ग़ज़ल से प्रारंभ होती है और उसके उपरान्त उर्दू में अनेकशः शायरों ने इस परम्परा का निर्वाह किया । उर्दू ग़ज़ल की मानसिक और दैहिक स्थित अरबी-फ़ारसी के बनाए गए सिद्धान्तों के अनुसार ही है, किन्तु हिन्दी में ग़ज़ल की मानसिक स्थिति पुरानी उर्दू मासिकता अर्थात् संवेदना से भिन्न है । हिन्दी ग़ज़ल की संवेदना की भिन्नता के कारण ही भारवर्ष की उर्दू ग़ज़ल की संवेदना में भी भिन्नता, पर्याप्त विरोध के बाद भी पाई जाने लगी है । कहने का आशय यह है कि उर्दू ग़ज़ल भी हिन्दी ग़ज़ल की पगडण्डी पर चल पड़ी है । यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि पुरानी उर्दू ग़ज़ल और आधुनिक हिन्दी ग़ज़ल की संवेदना में जहाँ अन्तर है, वहाँ उनके शैल्पिक रूप में भिन्नता देखने को नहीं मिलती है । कहने का आशय यह है कि हिन्दी ग़ज़ल में हिन्दी ग़ज़लकारों ने उसी शिल्प और छंद आदि का प्रयोग किया है, जिनका प्रयोग उर्दू में

किया जाता है । इन सबको देखते हुए यहाँ उर्दू और हिन्दी ग़ज़ल में आए परिवर्तन को जान लेना आवश्यक है तथा यह भी जान लेना आवश्यक है कि हिन्दी ग़ज़ल में संवेदनात्मक धरातल पर आया परिवर्तन आधुनिक समाज में कितना सार्थक है और जनोपयोगी है, जिसके कारण स्वतंत्रता-उपरान्त हिन्दी ग़ज़ल के साथ उर्दू ग़ज़ल में भी संवेदनात्मक धरातल पर परिवर्तन देखा जाने लगा है तथा हिन्दी ग़ज़ल में संवेदनात्मक धरातल पर आए परिवर्तन का स्वागत किया है । यहाँ उर्दू ग़ज़ल और हिन्दी ग़ज़ल में पाई जाने वाली समानता और असमानता का बिन्दुबार विवेचन और विश्लेषण किया जा रहा है –

संवेतनात्मक समानता और असमानता :

हिन्दी और उर्दू ग़ज़ल में विषय अर्थात् संवेदना के धरातल पर अन्तर पाया जाता है । उर्दू ग़ज़ल में अरबी-फ़ारसी ग़ज़ल के समान ही प्रेम, हुस्न, प्रेम की पीड़ा, प्रेम की उत्कंठा आदि की संवेदना पाई जाती है । ग़ज़ल के मिस्रों में इनका ही होना अनिवार्य है । इसके अतिरिक्त उर्दू ग़ज़ल में अन्य विषय/संवेदना को स्थान नहीं था, किन्तु हिन्दी ग़ज़ल का उद्भव अमीर खुसरो से माना जाता है । इसके बाद छायावादी प्रगतिवादी कवियों ने हिन्दी में ग़ज़लें लिखी । स्वतंत्र्तोपरान्त भारत में हिन्दी ग़ज़ल को नवगीत के उपरान्त अनेक हिन्दी कवियों, नवगीतकारों आदि ने लिखा, जिनकी संवेदना उर्दू ग़ज़ल की संवेदना से भिन्न थी । इनकी ग़ज़लों में सामान्य-जन की पीड़ा, बेरोजगारी, भुखमरी, वर्गभेद, राजनैतिक विसंगतियाँ, साम्प्रदायिक मसले, आर्थिक संकट, महंगाई आदि को संवेदना के धरातल पर उजागर किय गया । हिन्दी ग़ज़ल आम-आदमी की पीड़ा के निकट आई, जो उर्दू ग़ज़ल में नहीं था । कहने का आशय यह है कि प्रेम के

उन्माद, उससे उत्पन्न पीड़ा, विरह-विदग्धता की परिसीमा/परिधि से हिन्दी ग़ज़ल अपने को बाहर लाई और आम-आदमी की दु:ख-दर्द, उपेक्षा आदि के विस्तृत मैदान में प्रवेश किया । हिन्दी और उर्दू की ग़ज़ल के उपर्युक्त संवेदनात्मक आधार पर उदाहरण प्रस्तुत कर रही हूँ –

उर्दू अर्थात् अरबी-फ़ारसी की ग़ज़ल का उदाहरण –

मुतमईन हूँ ज़ीस्त बार है तो क्या
जहर पी रहा हूँ मैं नागवार है तो क्या ।
इश्क के हुजूर मैं सुर्ख़रू तो हो गए
दामने-हयात अगर तार-तार है तो क्या
अपनी ख़िलवतों में तो वे बेनियाज़ हो गए
इन्तज़ार में कोई बेक़रार है तो क्या[249]

हिन्दी ग़ज़ल का उदाहरण -

आज वीरान अपना घर देखा
तो कई बार झाँक कर देखा
पाँव टूटे हुए नज़र आए
एक ठहरा हुआ सफ़र देखा ।
होश में आ गए कई सपने
आज हमने वो खँढहर देखा ।[250]

उपर्युक्त उदाहरणों में से पहला उदाहरण उर्दू-अरबी-फ़ारसी से सम्बन्ध रखता है और दूसरा उदाहरण हिन्दी ग़ज़ल का है । पहले

उदाहरण में प्रेम का उल्लेख है, जिसमें प्रेमानुभूति के साथ प्रेम की पीड़ा उत्कंठा आदि को दर्शाती है तो दूसरा उदाहरण हिन्दी ग़ज़ल का है जिसमें आम-आदमी की पीड़ा, उपेक्षा, दर्द आदि को दर्शाया गया है । इस कारण से हिन्दी ग़ज़ल और उर्द ग़ज़ल में संवेदनात्मक धरातल पर अन्तर पाया जाता है । वह भी इसलिए आधुनिक हिन्दी ग़ज़लकार ने हिन्दी ग़ज़ल के लिए प्रेमी-प्रेमियों के प्रेम को महत्व न देकर आम-आदमी के प्रेम को महत्व दिया गया है । समाज, सत्ता, धार्मिक अफ़ीम के माध्यम से उसे छला जा रहा है, उसको हिन्दी ग़ज़ल ने अपने शेरों के माध्यम से वाणी प्रदान की है ।

उर्दू ग़ज़ल और हिन्दी ग़ज़ल में संवेदना के स्तर पर एक यह समानता दिखाई जाती है कि उर्दू ग़ज़ल के प्रत्येक शेर में अलग-अलग भाव होते हैं और हिन्दी ग़ज़ल के भी अलग-अलग शेरों भी अलग-अलग भाव-विचार पाये जाते हैं । उर्दू ग़ज़ल की भाव-भूमि मूलतः प्रेम और हुस्न से अनुस्यूत होती है वहाँ हिन्दी-ग़ज़ल की भाव-विचार जमीन आम-आदमी की पीड़ा से सम्बन्धित होती है, जो अलग-अलग शेरों में पृथक-पृथक भाव को लेकर लिखे जाते हैं । यहाँ इस बात की पुष्टि के लिए प्रमाण के बतौर उर्दू और हिन्दी के ग़ज़लों के उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं ।

उर्दू ग़ज़ल का उदाहरण :

तुमने तो एक दिन भी न ईधर गुज़र किया
हमने ही इस ज़हान से आखिर सफ़र किया
जिनके सब़ब़ से देर को तूने किया खराब
ऐ शैख उन बुतों ने मेरे दिल में घर किया
कम-फुरसती ने हस्ती-ए-बे-एतबार की

शरमिन्दा तेरे आगे हमें ऐ शरर किया

रोता है गर्मजोशी-ए-में याद करके 'दर्द'

आतश ने मुझको शमअ के मानिन्द तर किया ।[251]

हिन्दी ग़ज़ल का एक उदाहरण :

बाढ़ की संभावनाएँ सामने हैं,

और नदियों के किनारे घर बने हैं ।

चीड़ वन में आँधियों की बात मत कर

इन दरख्तों के बहुत नाजुक तने हैं ।

इस तरह टूटे हुए चेहरे नहीं हैं,

जिस तरह टूटे हुए ये आइने हैं ।

आपके समय तो पाँव कीचड़ में सने हैं .

जिस समय चाहो बजाओ इस सभा में

हम नहीं हैं आदमी, हम झुनझुने हैं ।

अब तड़पती-सी ग़ज़ल कोई सुनाए,

हमसफर ऊँघे हुए हैं, अनमने हैं ।[252]

किन्तु उर्दू और हिन्दी की ग़ज़लों के पृथक-पृथक शेर में भाव-विचार अलग-अलग है, पर मूल स्त्रोत उर्दू ग़ज़ल में प्रेम और हुस्न से प्रेरित है और हिन्दी ग़ज़ल का आम-आदमी की पीड़ा से । यहाँ यह कहना अवश्य चहाँगी कि उर्दू ग़ज़लकारों ने ग़ज़ल का विषय प्रेम और हुस्न को ही बनाया, जबकि हिन्दी ग़ज़लकारों ने आम-आदमी को, लेकिन आज का उर्दू ग़ज़लकार भी

आम आदमी को अपनी संवेदना का विषय ग़ज़ल में बना रहा है । यानी वह अपने को आम-आदमी की पीड़ा से अलग करके देखना उचित नहीं समझता है । इसीप्रकार हिन्दी ग़ज़लकार भी अपनी ग़ज़ल को प्रेमानुभूतियों और रूप-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति से अलग नहीं कर सका है, इसलिए ही उनकी ग़ज़ल में भी प्रेमानुभूतियों की अभिव्यक्ति ग़ज़ल में पायी जाती है ।

स्वतंत्रता के बाद से उर्दू ग़ज़लकार भी आम-आदमी से अपने को जोड़ने का प्रयास कर रहे हैं । उनकी ग़ज़लों में भी आम-आदमी की वेदना को अभिव्यक्ति मिली है और मिल रही है । इस प्रकार उर्दू-ग़ज़ल भी प्रेम और हुस्न की वादियों से निकल कर आम-आदमी की परेशानियों की पथरीली जमीन पर चली है और उस चलने पर मिले अनुभवों को उन्होंने ग़ज़ल में निर्भीकता से चित्रित किया है । कहने का यह आशय है कि उर्दू ग़ज़ल ने अपने मूल अर्थ से अलग होकर हिन्दी की परेशानियों की चीख को शब्दार्थ देने का सार्थक प्रयास किया है ।

उर्दू ग़ज़ल ने फ़ारसी-अरबी के बनाए गए सिद्धान्तों का अक्षरश: प्रयोग किया है । उर्दू के सिद्धान्त निर्माता ग़ज़ल का परीक्षण उन्हीं सिद्धान्तों की कसौटी पर करते हैं । यदि उन सिद्धान्तों/नियमों का पालन या निर्वाह उर्दू ग़ज़लकार नहीं करते हैं, तो वे ऐसी ग़ज़लों पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं तथा उनकी शास्त्रीय र छांदसिक दृष्टि से आलोचना भी करते हैं । उर्दू ग़ज़ल में शेर, रदीफ़, क़ाफ़िया, मतला, मकता, अर्क़ान, वज़्न, सबब, फासला, बह्‌र, मजाइफ आदि तत्व अवश्य पाये जाते हैं । इनका यदि विधिवत् प्रयोग नहीं किया जाता है, तो विद्वान समीक्षक उन पर अपनी वैचारिक-उँगली अवश्य उठा देते हैं, उसी प्रकार हिन्दी समीक्षक दोहा, सवैया, हरिगीतिका, गीतिका आदि छांदसिक प्रयोगों का उचित और सैद्धांतिक दृष्टि से प्रयोग नहीं हुआ

है, तो वे भी उसकी आलोचना करने से नहीं चूकते हैं और उन्हें उस सम्बन्ध में चूकना भी नहीं चाहिए । हिन्दी ग़ज़लकारों ने अपनी ग़ज़लों में अरबी-फ़ारसी के सिद्धान्तों का अक्षरश: प्रयोग नहीं किया है, जहाँ तक उचित समझा है, वहाँ तक प्रयोग किया है, किन्तु यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि वर्तमान में हिन्दी के ग़ज़लकार अरबी-फ़ारसी की ग़ज़लों के सिद्धान्तों का अध्ययन करके उनका प्रयोग ग़ज़लों में करने लगे हैं । अत: उन पर वर्तमान में इस पक्ष को लेकर कम आलोचना हो रही है । यद्यपि ग़ज़ल के सिद्धान्तों का क्रम से वर्णन किया गया है तथा उनका हिन्दी और उर्दू ग़ज़लकारों ने किस रूप में प्रयोग किया है, उसके उदाहरण भी दिए गए हैं।

हिन्दी ग़ज़ल में शेर :

ग़ज़ल में पाँच से लेकर अधिक-से-अधिक सत्रह शेर होते हैं । हिन्दी ग़ज़लकारों ने इसका पूरा ध्यान रखा है । कुँअर बेचैन ने 'आंगन की अलगनी' ग़ज़ल-संग्रह में पाँच शेरों का ही प्रयोग किया है । दुष्यन्तकुमार ने 'साये में धूप' ग़ज़ल-संग्रह में पाँच और सात शेरों का प्रयोग किया है । ज़हीर कुरेशी ने 'भीड़ सबसे अलग' ग़ज़ल-संग्रह में सात शेरों का प्रयोग ही किया है । इस प्रकार हिन्दी ग़ज़लकारों ने ग़ज़लों में शेर के नियम का पालन किया है । कुँअर बेचैन के ग़ज़ल-संग्रह 'आँगन की अलगनी' में जैसा कहा जा चुका है, पाँच शेरों का ही प्रयोग किया है । उनकी एक ग़ज़ल को नमूने के बतौर प्रस्तुत किया है –

बाग में आये, आ के लौट गये
फूल, खुशबू लुटा के लौट गये

वे भी कुछ पल रहे अँधेरों में
वे जो दीपक बुझा के लौट गये

आपका क्या है, आपके तो नयन
दिल पे जादू चला के लौट गये

जिन्दगी वो नदी है, जिसमें सब
चार-छह दिन नहा के लौट गये

जिनके आँसू थे मेरी आँखों में
वो 'कुँअर' मुस्करा के लौट गये ।[253]

कहने का आशय यह है कि उर्दू ग़ज़लकारों के समान ही हिन्दी ग़ज़लकार ने भी शेर सम्बन्धी सिद्धान्तों का ग़ज़ल में अक्षरशः ध्यान रखा है। इस रीति-नीति से हिन्दी ग़ज़ल उर्दू ग़ज़ल के निकट बैठती है ।

रदीफ़ :

ग़ज़ल में रदीफ़ प्रथम और द्वितीय पंक्तियों के अन्तिम शब्द एक से होते हैं और उसके बाद के शेरों की दूसरी पंक्तियों में वही शब्द आते हैं जो ग़ज़ल के प्रारंभिक शेर की दोनों पंक्तियों के अन्त में आए शब्द के समान ही आते हैं । उर्दू ग़ज़ल में इसका पूरा ध्यान रखा जाता है और उनकी ग़ज़ल में रदीफ़ का प्रयोग 'दीवान-ए-मीर' में अवलोकनीय है –

जब जुनूँ से हमें लवरस्सुम था
अपनी जंजीर-ए-पा ही का ग़ल था
विस्तार था चमन में, जूँ बुलबुल
नालः सर्माय-ए तवज्जुल था
उनने पहचान कर, हमें सारा

मुँह नक रना इधर तजाहुल था ।[254]

उर्दू के समान ही हिन्दी ग़ज़लकारों ने भी रदीफ़ का ग़ज़ल में पूरा ध्यान रखा है ।

उन्होंने भी हिन्दी ग़ज़ल में रदीफ़ का प्रयोग उसी प्रकार से किया है, जिस प्रकार से उर्दू ग़ज़लकारों ने किया है । हिन्दी-ग़ज़ल में प्रयुक्त की गई रदीफ़ सम्बन्धी पंक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत की जा रही है –

जिन्दगानी का कोई मकसद नहीं है
एक भी कद आज आदमकद नहीं है
राम जाने किस जगह होंगे कबूतर
इस इमारत में कोई गुम्बद नहीं है ।
आपसे मिलकर हमें अकसर लगा है
हुस्न में अब जज्ब-ए-अमज़द नहीं है ।[255]

उपर्युक्त शेरों में बोल्ड अक्षरों में रदीफ़ है । हिन्दी ग़ज़लकारों ने इस ग़ज़ल के इस सिद्धान्त का भी प्रयोग ग़ज़लों में किया है । इस परम्परा से हिन्दी ग़ज़लकार अपने को अलग नहीं कर सके हैं और उन्हें करना भी नहीं चाहिए था । यदि उसका प्रयोग नहीं करते तो उनकी ग़ज़ल को ग़ज़ल की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता था ।

क़ाफ़िया :

उर्दू ग़ज़ल में क़ाफ़िया का भी प्रयोग किया जाता है । इसमें ग़ज़ल की पहली दो पंक्तियों में इसके उपरान्त के शेरों की दूसरी पंक्ति में तुकान्त का होना चाहिए । इस तुकान्त को ही क़फ़िया कहते हैं, जिसका संकेत

ग़ज़ल के सैद्धान्तिक पक्षों के क्रमबद्ध उल्लेख में किया गया है । उर्दू में क्योंकि ग़ज़ल लिखना प्रारंभ की गई थी, इसलिए उनका छंदशास्त्र भी उर्दू के अनुरूप है, जिसका अक्षरशः प्रयोग उर्दू ग़ज़लकारों ने किया है । वे अपनी ग़ज़ल को उसके छांदिक सिद्धान्त से एक इंच भी अपने को अलग नहीं कर सके हैं । यहाँ यह भी कहा जावेगा कि हिन्दी ग़ज़ल ने उर्दू ग़ज़ल के नियम का पूरा पालन करने का सार्थक प्रयास किया है और वे उसमें सफल हुए हैं । यहाँ उर्दू-हिन्दी ग़ज़ल के क़ाफ़िया सम्बन्धी प्रयोग के सम्बन्ध में एक-एक उदाहरण अवलोकनार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है –

हमने उसे बहुत ढूँढा, न पाया
अगर पाया तो खोज अपना न पाया
जिस इंसा को सगे-दनिया न पाया
फ़रिस्ता उनका हम-पाया न पाया
मुक़द्र ही पे गर सूदो-जिया है
तो हमने याँ न कुछ खोया न पाया ।[256]

शिकार होते रहे हैं, शिकार हैं अब तक
तमाम लोग सुरक्षा के पार हैं अब तक
पचास पीढ़ियाँ जिसको चुका न पाएँगी,
हमारे पुरखो के इतने उपकार हैं अब तक ।
नदी के पाँव में घुँघरू बँधे हुए हैं कहाँ
कहीं नदी के सुरों में सितार हैं अब तक ।[257]

उपर्युक्त हिन्दी ग़ज़ल के उदाहरण में भी क़ाफ़िया के रूप को भी देखा जा सकता है । उदाहरण में बोल्ड अक्षरों में क़ाफ़िये का प्रयोग किया गया है । इस प्रकार उर्दू ग़ज़ल के समान ही हिन्दी ग़ज़ल में भी उन्हीं छांदिक नियमों का पालन किया गया है, जैसे ग़ज़ल मे किया जाता है और किया जाना चाहिए । इस प्रकार छांदिक रूप में भी समानता पाई जाती है ।

हिन्दू-उर्दू ग़ज़ल के छांदिक समानता के उपरान्त उनके संवेदनात्मक और शिल्पगत समानता और विषमता का भी अध्ययन और मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है । अतः संवेदना और शिल्प के धरातल पर हिन्दू-उर्दू ग़ज़ल की समानता और विषमता का अध्ययन, विश्लषण और आकलन एक साथ ही किया गया है, जो इस प्रकार से है –

संवेदना:

उर्दू ग़ज़ल में संवेदनात्मकता सर्वाधिक पायी जाती है । ग़ज़लकारों के माध्यम से ग़ज़ल में अभिव्यक्त संवेदना श्रोता-पाठक के हृदय को छू जाती है । उनकी भोगी हुई संवेदनाओं के कल्पना अर्थात् तख़य्युल का मिश्रण शेर में चार-चाँद लगा देती है । उर्दू ग़ज़ल में ग़ज़लकारों ने जिन संवेदनाओं को अभिव्यक्त किया है उनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है ।

प्रेमाभिव्यक्ति अर्थात् इश्क :

प्रेम यानि इश्क ग़ज़ल का प्रमुख विषय है । अरबी-फ़ारसी ग़ज़लकारों ने, जैसा पूर्व में कहा जा चुका है - ग़ज़ल में प्रेम की सर्वाधिक अभिव्यक्ति की है । प्रेम की आँच ग़ज़ल के रंग को और गाढ़ा करती है, जो छूटने पर भी नहीं छूटता है । उर्दू ग़ज़लकारों ने प्रेम की दोनों संयोग और वियोग की

अभिव्यक्ति मार्मिकता के साथ की है । इस तथ्य की अभिव्यक्ति शायर असगर गोंडवी ने इस प्रकार से की है –

मैं क्या कहूँ, कहाँ है मुहब्बत, कहाँ नहीं
रग-रग में दौड़ी फिरती है नश्तर लिए हुए ।[258]

मोमिन प्रेम से उत्पन्न उपेक्षा की दौलत पर अपने को न्योछावर कर देते हैं, उन्होंने अर्ज़ किया है –

मुझको तेरे अताब ने मारा
या मेरे इज़्तराब ने मारा
बज़्मे-मय में बस एक मैं महरूम
आपके इज्तनाब ने मारा
लेके दिल भी कजो नहीं जाती
जुल्फ़ के पेचो-ताब ने मारा ।[259]

उर्दू के अन्य शायर गालबि, मीर, नजीर अकबरावादी, अलीसरदार जाफ़री, बहादुरशाह जफ़र आदि ने भी अपनी ग़ज़लों में प्रेम की अनेक अनुभूतियों को वाणी प्रदान की है ।

परमात्मा के प्रति अनुराग और समर्पण तसब्बुफ़ :

ग़ज़ल में तसब्बुफ़ विशेष महत्व है । यह मूलत: सूफियों की देन है । सूफ़ी-सम्प्रदाय में परमात्मा को प्रेमिका और भक्त को प्रेमी की संज्ञा दी है, जबकि निर्गुण और सगुण चिन्तन में परमात्मा को पति और आत्मा/भक्त को पत्नी की संज्ञा दी गई है । जायसी या कुतबन आदि सूफी कवियों ने तसब्बुफ़ रीति का निर्वाह किया है । इसको इश्क हक़ीक़ी भी कहा गया है ।

उर्दू में दुनियादारी के प्रेम को इश्क मज़ाजी और आध्यात्मिक प्रेम को इश्क हक़ीक़ी कहा गया है। सूफियों ने इश्क हक़ीक़ी का प्रयोग काव्य में किया है और जीवन में भी। इस आधार पर सूफ़ियों के कई सम्प्रदाय हैं, जिनमें आत्मा को परमात्मा और ईश्वर को पत्नी के रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

हुस्न का वर्णन/रूप-वर्णन :

उर्दू ग़ज़ल में इश्क के साथ हुस्न को भी विशेष रूप में महत्व दिया गया है। रूप-वर्णन हिन्दी में भी मिलता है। हिन्दी कवि-रूप-सौन्दर्य के अन्तर्गत नख-शिख वर्णन करते हैं, किन्तु उर्दू शायर हुस्न-वर्णन में शिख-नख का रूपांकन करते हैं। फिराक गोरखपुरी ने हुस्न का वर्णन इस प्रकार से किया है –

जरा विसाल के बाद आईना तो देख ऐ दोस्त
तेरे जमाल की दोशीज़गी निखर आयी।[260]

फिराक का रूप-वर्णन का एक उदाहरण इस प्रकार और दखिए -

जो छिप के तारों की आँखों से पाँव धरता है
उसी के नक़्शे-कफ़े-पा सजल हो उठे हैं चराग[261]

पाखण्ड का विरोध :

पाखण्ड जीवन के लिए कोढ़ है। जीवन की सहजता ही मानव के जीवन को महान बनाती है और पाखण्ड उसे अमानव। उर्दू ग़ज़लकारों ने भी सामान्य-जीवन की प्राकृतिक स्थिति को श्रेष्ठतर स्थान प्रदान करते हैं। बड़े-बड़े शायोरं ने पंडितों, मौलवियों आदि की आलोचना की है। कुछ उदाहरण इस प्रकार है –

यह जो महंत बैठे हैं राधा के कुंड पर
अवतार बन के गिरते हैं परियों के झुण्ड पर ।[262]

गालिब ने भी पाखण्ड का विरोध अपने ढंग से किया है –

कहाँ मैखाने का दरवाजा ग़ालिब और कहाँ वाइज़
पर इतना जानते हैं कल वो जाता था कि हम निकले[263]

मानवीयता की प्रधानता :

उर्दू ग़ज़लकारों ने मानवीयता को भी प्रधानता दी है । इस क्षेत्र में वे हिन्दी ग़ज़ल से पछे नहीं है, किन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि उन्होंने मानवीय-मूल्यों को केन्द्र में रखकर अधिक रचनाएँ नहीं की हैं । उसका यह कारण है कि उनके यहाँ ग़ज़ल का मूल आशय इश्क मज़ाजी औरइश्क हक़ीक़ी को विशेष महत्व दिया गया है । इश्क मिज़ाजी में लौकिक प्रेम की महत्ता प्रमुख है । यह प्रेम उनका विशेष रूप से प्रेमी-प्रेमिका से सम्बन्ध रखता है । इसलिए उनके काव्य में आध्यात्मिक प्रेम अर्थात् इश्क हक़ीक़ी के साथ इश्क मिज़ाजी अर्थात् प्रेमी-प्रेमिका का प्रेम में वे मानवीय प्रेम को भी महत्व देने से हिचकिचाते नहीं हैं । उसी के परिणामस्वरूप उनके काव्य में मानवीय-प्रेम के माध्यम से मानवीयता को भी प्रधानता दी है ।

याद आता है कोई रह रह के,
जिन्दगी की वो बोलती तस्वीर ।[264]

मानवीय संवेदना की प्रधानता हिन्दी ग़ज़ल में विशेष रूप से पाई जाती है । कहने का आशय यह है कि हिन्दी ग़ज़ल के ग़ज़लकारों ने मानवीय संवेदना को विशेष रूप से वरीयता प्रदान की है । वे उन अमानवीय मूल्यों का उल्लेख करते हैं, जिनसे मानवीय मूल्यों पर गहरा प्रहार हो रहा है

और उससे मानवीय मूल्य घायल हो रहे हैं । इस संवेदना की अभिव्यक्ति के पार्श्व में उनकी मानवीय-संवेदना परोक्ष रूप से स्पष्ट परिक्षित होती है । कहने का तात्पर्य यह है कि मानवीय मूल्यों के स्थापन के लिए ही, उन्होंने अमानवीय मूल्यों का यथार्थ चित्रण किया है । इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रस्तुत है –

इन ठिठुरती उँगलियों को इस लपट पर सेंक लो,
धूप अब घर की किसी दीवार पर होगी नहीं ।
आज मेरा साथ दो, वैसे मुझे मालूम है,
पत्थरों में चीख हरगिज कारगर होगी नहीं ।[265]

हिन्दी ग़ज़ल में मानवीय संवेदनाओं को प्रमुखता से स्थान दिया गया है । इसलिए जहाँ उर्दू ग़ज़ल लौकिक प्रेम अर्थात् प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम और आध्यात्मिक प्रेम को विशेष महत्व देती है, वहाँ हिन्दी ग़ज़ल आम-आदमी की पीड़ा-दर्द, शोषण, बेरोजगारी आदि को उजागर कर मानवीय-मूल्यों को स्थापित करने में विशेष रुचि रखती है । इस संवेदना की परिधि में हिन्दी-ग़ज़ल को रखा जा सकता है, जो उर्दू ग़ज़ल की सीमित परिसीमा से निकलकर अपनी संवेदनात्मक आकाश-परिधि को तय करती है । इस प्रकार हिन्दी ग़ज़ल उर्दू ग़ज़ल से भिन्न है, पर उर्दू के शायर नज़ीर अकबरावादी की नज़्मों के माध्यम से अभिव्यक्त किया । इस आधार पर उन्हें सामान्य-जन का शायर कहा गया है । उन्हें सामान्य-जन और प्रबुद्ध-वर्ग में जो लोकप्रियता मिली वह उनके पूर्ववर्ती शायरों को प्राप्त नहीं हुई थी। उनकी ग़ज़ल को हिन्दी ग़ज़ल नहीं किया जा रहा है ।

उसी के समान ही आम-आदमी की पीड़ा को यथार्थ के धरातल पर देखा-परखा जा सकता है । किन्तु उनके अतिरिक्त उर्दू के शायरों ने आम-आदमी की पीड़ा की ओर ध्यान नहीं दिया, जिसके कारण उर्दू ग़ज़ल अपने को लौकिक और आध्यात्मिक प्रेमानुभूति से पृथक नहीं कर सकी है । ऐसे और भी विषय है, जिनमें हिन्दी-उर्दू ग़ज़ल में समानता के साथ भिन्नता है, जिनका विस्तार से वर्णन करने से विषय-सामग्री का विस्तार हो जावेगा तथा वह विषय-सामग्री विषय का पिष्टपेषण भी हो सकता है । इसलिए इस सम्बन्ध में और अधिक विस्तार नहीं किया गया है और शोध-प्रविधि के अनुसार करना भी औचित्यपूर्ण नहीं है ।

शैल्पिक समानता और विषमता :

शिल्प के सम्बन्ध में ग़ज़ल के छंद सम्बन्ध में पूर्व में लिखा जा चुका है। अत: उस पर पुन:र्विचार नहीं किया जा रहा है । यहाँ उर्दू-हिन्दी ग़ज़ल उन शैल्पिक पक्षों के सम्बन्ध में समानता और विषमता के निष्कर्ष पर आकलन किया जा रहा है, जिनका उल्लेख, विवेचन और मूल्यांकन अभी नहीं किया है, जिनमें महत्वपूर्ण हैं- अलंकार, प्रतीक, बिम्ब, भाषा प्रमुखता रखते हैं । इन्हीं बिन्दुओं को आधार बनाकर उर्दू-हिन्दी ग़ज़ल का यहाँ समानता और विषमता का आकलन किया जा रहा है ।

अलंकार : भाषा शैल्पिक सौन्दर्य का महत्वपूर्ण तत्व है । यह रचना में सौन्दर्य की सृष्टि करता है, भाव को वस्तिारता प्रदान करता है और गहन गंभीर बनाता है । इससे बिम्ब निर्माण में रचनाकार को भी सहायता प्राप्त होती है । रचनाकार आवश्यकतानुसार अलंकारों का प्रयोग करता है । जिन अलंकारों का उल्लेख भारतीय हिन्दी आचार्यों ने स्थापना के साथ किया है, वैसा उल्लेख उर्दू साहित्यशास्त्रियों ने नहीं किया है । किन्तु यह

सच है कि अलंकार प्रयोग की प्रवृत्ति मानव में सृष्टि में पदार्पण के बाद से ही रही होगी तब ही संस्कृताचार्यों ने अलंकारों की शास्त्रीय स्थापना की है । कहा जा चुका है कि अलंकार से रचना प्रारंभ से ही अलंकृत रही है, इसलिए उर्दू रचना में भी वे अलंकार हो सकते हैं, जिन्हें भारतीय संस्कृताचार्यों ने स्थापित किया है । यहाँ हिन्दी-उर्दू ग़ज़ल में मुख्य शब्दालंकार और अर्थालंकारों का उल्लेख किया जा रहा है, जिनमें विशेष रूप से शब्दालंकार में अनुप्रास, पुनुरूक्तिप्रकाश का और अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, संदेह आदि तथा अंग्रेजी अलंकार में मानवीकरण का विवेचन उर्दू-हिन्दी ग़ज़ल में किया जा रहा है ।

क. शब्दालंकार :

रचना में रचनाकार शब्दालंकार से भाव और विचार के सौन्दर्य की सृष्टि की है । यहाँ कहे गए अलंकारों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है ।

अनुप्रास :

अनुप्रास शब्दालंकार में वर्ण की आवृत्ति की प्रधानता होती है, जिससे रचना में कर्ण-पेशलता अथवा कर्ण कटुता की प्रधानता होती है उससे रचना में मधुरता या ओज, रौद्र आदि सृष्टि की जाती है । हिन्दी-उर्दू ग़ज़लों में अनुप्रास पाये जाते हैं, जिनमें कृत्रिमता, बनावटीपन नहीं है, अस्तु स्वाभाविक है । दोनों भाषाओं की ग़ज़ल रचना में इस शब्दालंकार का प्रादुर्भाव सायास नहीं है । इसके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं, यथा –

हिन्दी ग़ज़ल :

क. पुराने पड़े डर, फेंक दो तुम भी,

यह कचरा आज बाहर फेंक दो तुम भी ।[266]

ख. हो गई है पीर पर्वत-सी पिघलनी चाहिए

इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए ।[267]

उर्दू ग़ज़ल :

क. मुद्द'ओ मुझ को खड़े साफ बुरा कहते हैं

चुपके तुम सुनते हो बैठे, इसे क्या कहते हैं ।[268]

ख. माहो-मिरींख तब तो तुम पहुँचे

खुद-रसो भी कभी नसीब हुई [269]

पुनुरूक्ति-प्रकाश :

पुनुरूक्तिप्रकाश शब्दालंकार में एक शब्द की दो बार एक साथ अभिव्यक्ति होती है, जिसके माध्यम से रचनाकार किसी विचार पर विसेष बल प्रदान करता है अथवा भाषा-सौष्ठव में अभिवृद्धि करता है । यह आवृत्ति सायास नहीं होना चाहिए अपितु सहज और स्वाभाविक रूप में होना चाहिए। रचनाकार की रचनाओं में यह आवृत्ति स्वाभाविक और अकृत्रिम ही होती है, जिससे रचना के सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है । हिन्दी और उर्दू ग़ज़ल में शब्द की आवृत्ति स्वाभाविक रूप में पाई जाती है । इस सम्बन्ध में उर्दू और हिन्दी ग़ज़लकारों के उद्दरण अवलोकित किए जा सकते हैं –

हिन्दी ग़ज़ल :

क. रेत-ही-रेत नज़र की हद तक

जब का जलजात नहीं है कोई ।[270]

ख. जो अस्मत लुटते-लुटते बच गई थीं,

वे कुछ साक्षात् दुर्गाएँ अलग हैं ।[271]

ग. कीट-पतंग पशु-पक्षी, आदम भी शामिल रहते हैं ।

अपनी इस दुनिया में जड़-जंगम भी शामिल रहते हैं ।[272]

उर्दू ग़ज़ल :

क. कभी-कभी जो हदूदे गुमां से गुजरा हूँ ।[273]

ख. कितने पतंग उड़ाते, कितने मोती पिरोते

हुक्कों का दम लगाते हँस-हँसके शाद होते ।

सौ-सौ तरह का करकर विस्तार पैरते हैं,

इस आगरे में क्या-क्या, ऐ यार पैरते हैं ।[274]

हिन्दी और उर्दू के ग़ज़लकारों ने शब्दालंकार का प्रयोग यथासंभव प्रसंगानुकूल किया है । इन शायोरं को जब जैसी आवश्यकता महसूस हुई तब ही पुनुरूक्ति प्रकाश का समायोजन किया । इससे कर्ण-पेशलता के साथ भाव सौष्ठव का सामंजस्य परिलक्षित होता है । इस क्षेत्र में दोनों में समानता है ।

ख. अर्थालंकार :

अर्थालंकार से काव्य-रचना में अर्थ के वैशिष्ट्य की अभिवृद्धि होती है।

काव्य-रचना :

सौष्ठव के लिए काव्य-सृजक के काव्य में इनका स्वाभाविक रूप से प्रवेश होता है । इसके माध्यम से रचना के भाव-विचार अत्यधिक प्रभावित करते हैं, इसी उद्देश्य से काव्य-रचना में अर्थालंकार का स्वाभाविक रूप से आगमन होता है । प्राय: काव्य-सृ-जकों के काव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अर्थालंकार का प्रयोग अधिकतर होता है । हिन्दी-उर्दू ग़ज़लकारों की

ग़ज़लों में इनका रूप परिलक्षित होता है । अत: उर्दू-हिन्दी ग़ज़ल में पाये जाने वाले अर्थालंकार अलंकारों में से उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक अलंकार प्रचुर रूप में पाये जाते हैं । उनका क्रम से यहाँ विवेचन किया जा रहा है –

उत्प्रेक्षा अलंकार :

इस अलंकार में उपमेय पर उपमान की संभावना होती है । इससे उपमेय की श्रेष्ठता की संभावित अभिव्यक्ति होती है ।

हिन्दी ग़ज़ल :

क. वह भीख मांगता ही नहीं था-इसलिए
उस फूल जैसे बच्चे को अंधा किया गया ।[275]

उर्दू ग़ज़ल :

क. सोना चमक रहा है हीरे का ज्यूँ नगीना ।[276]

ख. दिल के आइने में इस तरह उतरती है निगाह
जैसे पानी में लचक जाय किरन क्या कहना ।[277]

उपमा अलंकार :

उपमा अलंकार में और उपमान में समानता होती है । समानता के कारण उपमेय का वैशिष्ट्य स्वत: ही बढ़ जाता है तथा उपमान से उपमेय की रम्यता में चार-चाँद लग जाते हैं । कवि/ग़ज़लकार रम्यता के लिए ही उपमा अलंकार का प्रयोग करता है । हिन्दी-उर्दू ग़ज़लकारों ने सहजता से बिना बनावट के इस अलंकार का प्रयोग अपनी ग़ज़लों के शेरों में किया है । दोनों भाषाओं के ग़ज़लकारों ने उपमा अलंकार का प्रयोग किया है, जिसमें सायासता प्रतीति नहीं होती है –

हिन्दी ग़ज़ल :

क. अपना तो बंजारा-सा जीवन है
संग-संग आवारा लिए फिरते हैं ।[278]

ख. है किसी निर्धन के बच्चे-सा उदास,
आश्वासन पर बहलता आदमी ।
घूमता है- बौखलाए सिंह-सा,
हर कदम पर हाथ मलता आदमी ।[279]

उर्दू ग़ज़ल :

क. दिल-सा दुरे-यतीम बिका कौड़ियों के मोल :[280]

ख. शायद वही बन-ठनके चला है कहीं घर से
है यह तो उसी चाँद-सी सूरत का उजाला ।[281]

ग. हज़ार बार ज़माना इधर से गुज़रा है
नई-नई-सी है कुछ तेरी रहगुज़र फिर भी ।[282]

रूपक अलंकार :

अप्रस्तुत विधान/अर्थालंकार में रूपक का भी विशिष्ट महत्व है । इस अलंकार में उपमेय पर उपमान का आरोपण होता है । दोनों में न तो संभावना होती है और न ही समानता, अस्तु उपमेय पर उपमान का आरोपण होता है । यह आरोपण हिन्दी और उर्दू के ग़ज़लकारों ने यथास्थान उपयुक्त स्थान पर किया है । इससे उपमेय के सौन्दर्य में सौ गुनी अभिवृद्धि हो जाती है । दोनों भाषाओं में प्रयुक्त रूपक के उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं ।

हिन्दी ग़ज़ल :

क. अपना तो मूलधन भी यही वर्तमान है ।[283]

ख. पाप के पंक में धँसे ऐसे -
चाह कर भी कमल न हो पाए ।[284]

ग. बँसवट की बंसरी जिन्दगी
आँसू की निर्झरी जिन्दगी ।[285]

घ. आज की राजनीति की सम्भा :[286]

उर्दू ग़ज़ल :

क. छिड़ते ही ग़ज़ल बढ़ते चले रात के साये
आवाज मेरी गेसुए-शव खोल रही है ।[287]

ख. इस दौर में ज़िन्दगी बशर की
बीमार की रात हो गई है ।[288]

ग. नर्मियाँ उस निगाह की क्या कहिये
इक किरन माहताब की सी है ।[289]

प्रतीक :

प्रतीक का प्रयोग गद्य-गद्य की रचनाओं में रचनाकार व्यक्त से अव्यक्त को प्रकट करता है जैसे सूर, नादिरशाह, कमल आदि क्रमश: अन्धे, क्रूरता, निर्मलता के लिए प्रतीक स्वरूप में प्रयोग किए जाते हैं । प्रतीकों में सांकेतिकता होती है । प्रत्येक रचनाकार उचित स्थान पर आवश्यकता पड़ने पर प्रतीकों का प्रयोग करता है । यह कई प्रकार के होते हैं । हिन्दी-उर्दू के ग़ज़लकारों ने अपनी ग़ज़लों में प्रतीक का प्रयोग किया है । यहाँ हिन्दी-उर्दू ग़ज़ल के उदाहरण समानता की दृष्टि से प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

देखकर अफसोस होता है बहुत

फूल काँटों की शरण है इन दिनों ।[290]

इस उदाहरण में 'फूल' और 'काँटे' पद का प्रयोग शेर में किया है । यहाँ इन पदों का सामान्य अर्थ नहीं है । फूल को काँटों की शरण में हिन्दी शायर में व्यक्त किया है । इनके प्रत्यक्ष अर्थ यहाँ गौण हो गए हैं उनके स्थान पर अप्रत्यक्ष अर्थ प्रमुख । यहाँ फूल सामान्य या सुन्दर बदन वाला काँटों अर्थात् पूँजीपति अथवा निरंकुश अर्थ की प्रतीति कराता है । यह प्राकृतिक प्रतीक हैं । इसके अतिरिक्त भी हिन्दी शायरों ने प्रतीकों का प्रयोग किया है । इसी क्रम में उर्दू ग़ज़ल का एक शेर अवलोकन के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसमें प्रतीक अथवा प्रतीकों का प्रयोग हुआ है, जो ग़ज़ल के भाव को सामान्य से विशिष्ठ बनाता है –

कुँअर बेचैन ने 'ध्रुवतारा' पद का प्रयोग कई शेरों में किया है, जिसका प्रतीकार्थ है वचनबद्धता और स्थिरता । शेर दृष्टव्य हैं –

क. कितना भी हो पारा मुझ में

होगा भी ध्रवतारा मुझमें ।[291]

ख. कौन कहता था कि वो टूटेगा मेरी ही तरह

जो वचन होठों पे उसके बनके ध्रुवतारा रहा ।[292]

ध्रुवतारा प्रतीक की भाँति क. उदाहरण में पारा पद भी आया है, जो अस्थिरता का प्रतीकार्थ है । इस प्रकार हिन्दी ग़ज़लकारों ने प्रतीकों का प्रयोग सार्थक किया है । उर्दू ग़ज़लकारों ने भी प्रतीकों का प्रयोग किया है, जो पहले प्रसंगानुरूप है और दूसरे व्यंजनार्थ लिए हुए हैं । इसी के कारण प्रतीकों का प्रयोग रचना में स्वाभाविक तौर पर पाया जाता है, जिसमें

कृत्रिमता और सायासता का अभाव होता है । उर्दू के कुछ प्रतीकों का यहाँ प्रयोग इसलिए किया जा रहा है कि हिन्दी के समान ही उर्दू में भी प्रतीकों का प्रयोग हुआ है ।

उर्दू ग़ज़ल :

क. ऐसा बेदर्द भी है काबा-शिकन

एक पत्थर का दिल भी जो तोड़े ।[293]

इसमें पत्थर कठोरता का प्रतीक है । जब दिल कठोर हो जाता है, तो उसे तोड़ना बहुत ही कठिन होता है । यहाँ शायर ने पत्थर प्रतीक का सार्थक प्रयोग किया है, जो न तो सायासित है और न ही आरोपित । एक प्रतीक का और उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है –

पर्दे की कुछ हद भी ऐ पर्दानशी

खुल के मिल बस मुँह छिपाना छोड़ दे ।[294]

इसमें पर्दे का प्रतीकार्थ है – लाज और पर्दानशी का है पर्दा करने वाली अर्थात् सुन्दरी जो अपनी लज्जा और शर्म करने के कारण पर्दा किए हुए है ।

बिम्ब-विधान :

ऐजरा पाउण्ड ने सर्वप्रथम बिम्ब के सम्बन्ध में अवधारणा प्रस्तुत की, उसके उपरान्त बिम्ब-विधान का अध्ययन काव्य विदा में सन्दर्भ में होने लगा। बिम्ब मानस चित्र होते हैं, जो अपना स्थायी प्रभाव श्रोता-पाठक-प्रेक्षक के मानस-पटल पर अंकित करता है । यद्यपि इस पर विचार पूर्व के कवियों के समय में नहीं हुआ है, किन्तु उन्होंने भी ऐन्दिय-बिम्बों का प्रयोग अपने काव्य में किया है । वर्तमान में इस अवधारणा के स्थापना के उपरान्त उनके

काव्यों का भी ऐन्द्रियों-बिम्ब की कसौटी पर हिन्दी आदि भाषाओं मे किया गया है और किया जा रहा है । हिन्दी-उर्दू ग़ज़लकारों ने भी ऐन्द्रिय-बिम्ब का प्रयोग किया है, जिससे पाठक-श्रोता-दर्शक के मानस-पटल पर बिम्ब के स्थायी चित्र उकेर दिए जाते हैं । यहाँ हिन्दी उर्दू ग़ज़लकारों द्वारा किया गये ऐन्द्रिय बिम्बों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं, यथा –

क. दृश्य बिम्ब :

दृश्य बिम्ब में दृश्यात्मक की प्रदानता होती है । विद्वानों के मतानुसार यह बिम्ब अन्य सभी ऐन्द्रिय-बिम्बों में विद्वान रहता है । यह बिम्ब भी सर्वाधिक रूप में काव्य में उपलब्ध होता है । कहने का आशय है कि इसकी प्रधानता सबसे ज्यादा रचना में पाई जाती है । उर्दू-हिन्दी ग़ज़लकारों की ग़ज़लों के शेरों में दृश्य-बिम्ब सुगमता से मिल जाते हैं, उनमें से उनके कुछ उदाहरण यहाँ दृष्टव्य हैं –

क. हिन्दी ग़ज़ल में दृश्य बिम्ब :

1. धूप में अठखेलियाँ हर रोज़ करती है,
   एक छाया सीढ़ियाँ चढ़ती-उतरती है ।[295]
2. शोहरत के नशे में तुम ठोकर से उड़ाते हो
   ढक दे न कहीं तुमको गर्द गुब्बारों की ।[296]

हिन्दी शेर में जहाँ दृश्य-बिम्ब की प्रधानता पाई जाती है, वहाँ उर्दू ग़ज़ल में भी बिम्ब की प्रधानता पाई जाती है । दो उदाहरण तत्सम्बन्ध में दृष्टव्य हैं –

1. कई बिजलियाँ वे गिराए गिरी हैं

उन आँखों को अब आ गया मुस्कुराना ।[297]

2. सौ जगह उसकी आँखें पड़ती हैं

जैसे मस्त-ए-शराब हैं दोनों ।[298]

उर्दू के उपयुक्त शेरों में दृश्य बिम्ब की प्रधानता है । यह बिम्ब अलंकारों और मानवीकरण अलंकार के कारण अत्यधिक प्रभावित करते हैं।

ख. नाद-बिम्ब :

नाद-बिम्ब में ध्वनि की प्रधानता होती है । इसे ध्वनि बिम्ब भी कहते हैं। रचनाकार ध्वनि/नाद के माध्यम से ध्वनि-बिम्ब की सृष्टि करते हैं । यह बिम्ब उतने नहीं पाये जाते, जितने दृश्य-बिम्ब की प्रधानता रचना में होती है । हिन्दी-उर्दू ग़ज़लकारों ने नाद-बिम्ब की सृष्टि आवश्यकतानुसार की है । ध्वनि की सृष्टि वर्ण और पद के माध्यम से भी होती है और प्राकृतिक और मानव निर्मित वस्तु के द्वारा भी की जाती है । इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण अवलोकनार्थ प्रस्तुत हैं, यथा –

हिन्दी ग़ज़ल :

क. गुम्बदों के स्वर न बन पाये

सर्कसी बन्दर न बन जाये ।[299]

ख. पहिन कर चोगा वकीलों का

झूठ की खातिर लड़े हैं लोग ।[300]

उर्दू ग़ज़ल :

क. बहुत पहले से इन कदमों की आहट जान लेते हैं,

तुझे ऐ जिन्दगी हम दूर से पहचान लेते हैं ।[301]

ख. दिलों नज़र को किसी यादें हंसी ने बख्शा है वह नज़ारा ।[302]

ग. दाँत यूं चमके हंसी में रात उस महापारा के ।

मैंने समझा माहे तावाँ पारा-परा हो गया ।[303]

ग. स्पर्श-बिम्ब :

स्पर्श-बिम्ब में त्वचा ज्ञानेद्रिया की प्रधानता होती है । स्पर्श-बिम्ब भी रचना में कम हो पाये जाते हैं ।

हिन्दी ग़ज़ल :

क. बर्फ की देह जल रही है कहीं

धीरे-धीरे पिघल रही है कहीं ।[304]

उर्दू ग़ज़ल :

क. कौन यह ले रहा अंगड़ाई

आसमानों को नींद आती है ।[305]

ख. दिल के आइने में इस तरह उतरती है निगाह

जैसे पानी में लचक जाय किरने क्या कहना ।[306]

ग. कभी खुश भी किया है दिल किसी रिन्दे-शराबी का

भिड़ा दे मुंह-से-मुंह साकी हमारा और गुलाबी का ।[307]

घ. गन्ध-बिम्ब :

गन्ध-बिम्ब में गन्ध की प्रधानता होती है । यह गन्ध प्राकृतिक भी हो सकती है और मानव-निर्मित सुगन्धों का भी । यह बिम्ब न्यून ही होते हैं ।

क. हिन्दी ग़ज़ल :

जिसको घायल कर दिया था, उसके अपने पेड़ ने

सिर्फ़ उस टहनी पे कोई फूल अब खिलता नहीं ।[308]

ख. उर्दू ग़ज़ल :

1. ग़ाफ़िल । है बहारे-चमने-उम्र जवानी

कर सैर कि मौसम ये दोबारा नहीं आता ।[309]

कहा जा चुका है कि उर्दू-हिन्दी ग़ज़ल में दृश्य-बिम्बों की प्रधानता है, किन्तु अन्य बिम्ब पाये जाते हैं, किन्तु अधिक मात्रा में नहीं या यूँ कहा जाये कि अन्य बिम्बों को प्रचुरता उनकी ग़ज़लों में नहीं है, किन्तु यह सत्य है कि जहाँ भी बिम्ब की सृष्टि हुई है, वहाँ उनका ऐन्द्रिय अनुभव अपने पूरे प्रवाह के साथ होने लगता है । किन्तु स्पर्श बिम्ब की प्रधानता हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के शायोरं की ग़ज़लों के शेरों में न के बराबर है ।

भाषिक-प्रयोग :

रचना की सर्जना में भाषा का विशेष महत्व होता है, क्योंकि भाषा ही भाव-विचार को आकार/रूप प्रदान करती है । उर्दू ग़ज़लकारों ने ग़ज़ल का सर्जन उर्दू भाषा के शब्दों के माध्यम से हुआ है, अतः उर्दू शब्दों को प्रधान पाया जाता है और हिन्दी ग़ज़लकारों ने हिन्दी के तत्सम और तद्‌भव शब्दों के साथ देशज और अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है । उर्दू ग़ज़लों में उर्दू के तत्सम शब्दों की प्रधानता होती है । इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं –

क. खस्तगी मेह-ओ-माह की मत पूछ

कौन पैमाना है जो चुर नहीं ।[310]

ख. गर्मी-ए-अश्क, माने ए नजम-ओ-नुमा हुई

मैं वह निहाल था, कि उगा और जल गया ।[311]

ग. बगूला गर न होता वादिए-वहशत में ऐ मजनूँ

तो गुम्बद हमसे सरगश्तो की तुरबत पर कहाँ पोता ।[312]

इन उदाहरणों में उर्दू के अरबी-फारसी के तत्सम शब्दों की प्रधानता पाई जाती है । हिन्दी की भाषा में हुई ग़ज़लों में तत्सम, तद्भव, देशज और विदेशी आदि शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग देखा जा सकता है । तत्सम्बन्ध में उदाहरण अवलोकनार्थ प्रस्तुत किए जा रहे हैं ।

क. रूप यदि भूलों का 'अलबम' बन गया ।[313]

ख. हर सडक़ पर हर गली में, हर नगर में हर गाँव में

हाथ लहराते हुए हर लाश चलनी चाहिए ।[314]

ग. कल तो छूटी थी जमानत पे गिरफ्तार हवा

आज ही फिर से पकड़ने लगी रफ़्तार हवा ।[315]

घ. तय तो यह था जुल्म के नाखून काटे जाएँगे

लोग नन्हीं तितलियों के पर क़तर कर आ गए ।[316]

उपर्युक्त उदाहरणों से हिन्दी ग़ज़लों में हिन्दी और उर्दू के शब्द दोनों ही पाये जाते हैं । इसी प्रकार उन्होंने आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया है । इस प्रकार देखने में आया है कि हिन्दी ग़ज़लकारों को अन्य भाषाओं के शब्दों से किसी प्रकार का परहेज नहीं है, बशर्ते वह शब्द भाव-विचार को अर्थात् संवेदना को उचित ढंग से अभिव्यक्त कर सके । यह

कार्य हिन्दी ग़ज़लकार की भाषा सार्थकता से कर सकी है, इसमें किसी प्रकार शक नहीं है ।

निष्कर्ष :

अन्त में निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि हिन्दी और उर्दू ग़ज़ल में छांदिक, संवेदनात्मक और शैल्पिक क्षेत्र में अधिकांश रूप में समानता पाई जाती है। किन्तु उसके उपरान्त भी कुछ भिन्नताएँ भी पायी जाती हैं, जिनका उल्लेख विषयानुरूप किया गया है । यह होना चाहिए । इसके कुछ कारण है। ग़ज़ल मूलत: उर्दू का छंद है और उसकी अपनी संवेदना है, जिसका निर्धारण उर्दू पिंगलशास्त्रियों ने किया है । उर्दू ग़ज़ल का सृजन भी उसके शायर भी उसी रूप में करते भी हैं । उन नियमों से वे एक इंज भी अपने को इधर-उधर नहीं करते हैं । किन्तु हिन्दी ग़ज़लकारों ने उर्दू ग़ज़ल को उसी प्रकार लिया है, जिस प्रकार हिन्दी दोहे को उर्दू ग़ज़लकारों/शायरों ने ग्रहण किया है । हिन्दी ग़ज़लकार ग़ज़ल के शेर के माध्यम से प्राय: दैनिक जीवन की समस्याओं को, भोगे हुए यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ उर्दू ग़ज़लकार इश्क हक़ीक़ी और इश्क मिज़ाज़ी को ग़ज़ल में महत्व देते हैं अर्थात् वह अलौकिक प्रेम और लौकिक प्रेम को तरज़ीह देते हैं, क्योंकि उनकी ग़ज़ल का मिज़ाज़ा ही वही है । इधर वे आम जीवन को भी महत्व देने लगे हैं, किन्तु उस अनुपात में नहीं, जिस अनुपात में हिन्दी ग़ज़लकार कर रहे हैं । जो भी कुछ हो आज हिन्दी में ग़ज़ल का प्रचलन बढ़ रहा है । हिन्दी ग़ज़लकार छांदिक रूप में उर्दू का ही अनुसरण कर रहे हैं, किन्तु संवेदना और भाषा के स्तर पर समानता के बाद भी अन्तर है, जिसका उल्लेख इस अध्याय के अन्तर्गत किया गया है । इसी क्रम में यह कहना चाहूँगी कि उर्दू-हिन्दी ग़ज़ल में अनेक समानताएँ के बाद भी कुछ भिन्नताएँ

हैं, जो स्वाभाविक हैं, किन्तु इतनी नहीं हैं, जितनी प्रायः विद्वज्जन समझते हैं।

सन्दर्भ-सूची

[1] ये आंकडे हर प्रसाद चट्टोपाध्याय ने पार्लियामेंट के दस्तावेजों से लिया है, दि. सिपॉय म्टुटिनी, 1857 कलकत्ता 1957, पृ. 64

[2] जे. डब्लू.के., ए हिस्ट्री आफ सिपॉय वार, 9वां संस्करण, लंदन 1880 पृ. 502

[3] देखें, एच चट्टोपाध्याय, पृ. 71-76

[4] सैय्यद अहमद खां, असबावे बगाबे हिंदोस्तान (भारतीय विद्रोह के कारण) हाली के हयाते जावेद का परिशिष्ट, लाहौर, 1957, पृ.926-27

[5] जे. डब्लू.के. उपरोक्त पृ.621

[6] ये आंकड़े इरफान हबीब की पुस्तक, एस्सेज इन इंडियन हिस्ट्री-टुवर्डस् ए मार्क्सिस्ट परसेप्शन, नयी दिल्ली, 1995, पृ. 308-19 से लिए गये हैं । विद्रोह और बंदोबस्तों के बीच क्या रिश्ते थे इसके लिए देखें सैय्यद एंड दि राज, कैब्रिज, 1978, पृ. 195-96

[7] एरिक स्टोक द्वारा उद्धत, दि पीजेंट दि राज, कैंब्रिज, 1978, पृ. 195-96

[8] ए.सी. बनर्जी, इंडियन कांस्टीच्युशनल डाक्यूमंट्स, कलकत्ता, 1946, पृ. 24

[9] कैंब्रिज इकनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया, में (सं.) धर्माकुमार

[10] एस.ए.ए. रिज्वी, (सं.) फ्रीडम स्ट्रगल इन उत्तर प्रदेश, लखनऊ, 1957, पृ. 458

[11] एल.ई.एस.रीस, ए पर्सनल नरेटिव आफ दि सीज आफ लखनऊ, लंदन 1858 , पृ. 33-34

[12] जे.डब्लू.के. उपरोक्त, पृ. 496

[13] वी फाइ टुगेदर (सं.) रवि दयाल में इकबाल हुसैन का लेख देखें, दिल्ली, 1995 पृ.18

[14] पर्सीवल स्पीयर, ट्वीलाइट आफ दि मुगल्स, कैंब्रिज 1951, पृ.207-8

[15] एस.ए.ए. रिज्वी, (लखनऊ), 1958, पृ. 155-56, 159, इस पूरे पर्चे का अनुवाद किया गया है, पृ. 150-62

[16] एस.ए.ए. रिज्वी (सं.), उपरोक्, पृ. 453

[17] एस.एन. सेन, एटीन फिफ्टी सेवेन, अनुवाद देखें, दिल्ली, 1957, पृ. 282-83

[18] मूल उर्दू पांडुलिपि देखें, एस एन सेन की पुस्तक में पुनः छपा है, पृ. 74-75 पर

[19] चित्र के लिए देखें, एस ए ए रिज्वी (सं.), उपरोक्त, प्लेट सं.19, इसका अनुवाद पृ. 451-55 पर दिया गया है ।

[20] एस.एस स. रिज्वी (सं.), पृ.453-458 पर अनुवाद दिया गया है ।

[21] वही, पृ. 463

[22] जे.डब्लू.के., पांचवा संस्करण, लंदन, 1881, पृ. 270-71

[23] गज़लिका, रुद्र काशिकेय, पृ.3

[24] हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1 : संपादक डॉ.धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 278

[25] मुकद्दमा-ए-शेर-ओ-शायरी : हाली, पृ.97

[26] वही, पृ. 88

[27] उर्दू भाषा और साहित्य : रघुपति सहाय फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ.350-351

[28] साप्ताहिक हिन्दुस्तान (29 जनवरी से 4 फरवरी 1975) : संपादक मनोहर श्याम जोशी, पृ.9

[29] उर्दू ज़बान का संक्षिप्त इतिहास : रामनरेश त्रिपाठी, पृ.34-35

[30] मुकद्दमा-ए-शेर-ओ शायरी (भूमिका) : डॉ नगेन्द्र, पृ.17

[31] ग़ज़ल एक अध्ययन : चानन गोविन्दपुरी, पृ.64

[32] ग़ज़लिका : रुद्र काशिकेय, पृ.3

[33] शमशेर की कविता : डॉ. नरेन्द्र वशिष्ठ, पृ.57

[34] आधुनिक हिन्दी कविता में उर्दू के तत्व : डॉ. नरेश, पृ.25

[35] आधुनिक हिन्दी कविता में उर्दू के तत्व : डॉ. नरेश, पृ.25

[36] गज़लिका : रुद् काशिकेय, पृ.4

[37] Heart of Rama : स्वामी रामतीर्थ, पृ.13-133

[38] चंतिामणि, भाग 1 : रामचन्द्र शुक्ल, पृ.48

[39] आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य : रामेश्वरलाल खंडेलवाल, पृ.89

[40] दीवान-ए-ग़ालिब : मिर्ज़ा ग़ालिब, पृ.40

[41] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – जिगर मुरादाबादी : संपादक प्रकाश पंडित, पृ.41

[42] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – जोश मलिहाबादी : संपादक प्रकाश पंडित, पृ.106

[43] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – जोश मलिहाबादी : संपादक प्रकाश पंडित, पृ.116

[44] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – बहादुरशा जफ़र : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 68

[45] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – बहादुरशा जफ़र : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 63

[46] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – बहादुरशा जफ़र : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 80

[47] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – बहादुरशा जफ़र : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 22

[48] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – जौफ़ : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 36

[49] वही

[50] वही

[51] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – फैज़ अहमद फ़ैज़ : संपादक प्रकाश पंडित, पृ.112

[52] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – जौफ़ : संपादक प्रकाश पंडित, पृ.126

[53] फिल्म आँखों से : साहिर लुधियानवी

[54] दिलकश ग़ज़लें : संपादक के.पी. गुप्ता, पृ.19

[55] श्री निरंकार देव सेवक से प्राप्त ग़ज़ल का अंश

[56] श्री निरंकार देव सेवक से प्राप्त ग़ज़ल का अंश

[57] चिन्तामणि (भाग 1) : रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 164-165

[58] रिचर्ड्स के आलोचना सिद्धान्त : शम्भुदत्त झा, पृ.164

[59] सिद्धांत और अध्ययन : गुलाब राय, पृ. 44

[60] काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : जयशंकर प्रसाद, पृ. 38

[61] दीवान-ए-ग़ालिब, मिर्ज़ा गालिब, पृ.18

[62] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ : संपादक प्रकाश पंडित, पृ.125

[63] उर्दू के प्रसिद्ध शायर - बहादुरशाह जफ़र : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 97

[64] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – जिगर मुरादाबादी : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 47

[65] काव्योत्कर्ष (त्रैमासिक) : ग़ज़लकार विद्यासागर वर्मा, पृ. 10

[66] काव्योत्कर्ष (त्रैमासिक) : ग़ज़लकार विद्यासागर वर्मा, पृ. 10

[67] साये में धूप : दुष्यन्त कुमार, पृ. 57

[68] निर्झरिणी (हिन्दी ग़ज़ल विशेषांक), जून-जुलाई 1979, ग़ज़लकार निरंकार देव सेवक, पृ.15

[69] निर्झरिणी (हिन्दी ग़ज़ल विशेषांक), जून-जुलाई 1979, ग़ज़लकार निरंकार देव सेवक, पृ. 15

[70] मुक़द्मा-ए-शेर-ओ-शायरी : मौलाना हाली, पृ. 108

[71] उर्दू भाषा और साहित्य : फ़िराक गोरखपुरी, पृ.11

[72] वही, पृ. 11

[73] वही, पृ. 36

[74] मुक़द्मा-ए-शेर-ओ-शायरी : मौलाना हाली, पृ. 107

[75] उर्दू भाषा और साहित्य : फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 45

[76] उर्दू के प्रसिद्ध शायर - जोश मलिहाबादी : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 109

[77] उर्दू प्रोग्राम : आकाशवाणी लखनऊ (15-6-81 को प्रसारित)

[78] उर्दू के प्रसिद्ध शायर - जफ़र : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 105

[79] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – जिगर मुरादाबादी : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 96

[80] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – जफ़र : संपादक प्रकाश पंडित, पृ.60

[81] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – जफ़र : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 60

[82] उर्दू ज़बान का संक्षिप्त इतिहास : रामनरेश त्रिपाठी, पृ. 63

[83] उर्दू के प्रसिद्ध शायर – ज़ौक़ : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 55

[84] उर्दू – भाषा और साहित्य, फ़िराख गोरखपुरी, पृ. 271

[85] साप्ताहिक हिन्दुस्तान (29 जनवरी 1978) : उद्‌घोष की शक्ति के कवि इक़बाल : लेखक डॉ. नगेन्द्र, पृ. 12

[86] तलख़ियाँ : साहिर लुधियानवी, पृ. 39

[87] तलख़ियाँ : साहिर लुधियानवी, पृ. 130

[88] अमीर खुसरो, भावात्मक एकता के अग्रदूत : संपादक डॉ. मलिक मोहम्मद, पृ. 140

[89] अमीर खुसरो, भावात्मक एकता के अग्रदूत : संपादक डॉ. मलिक मोहम्मद, पृ.141

[90] उर्दू - भाषा और साहित्य : फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 11

[91] अमीर खुसरो : भावात्मक एकता के अग्रदूत, डॉ.मलिक मोहम्मद, पृ. 79

[92] ऊर्दू – भाषा और साहित्य : फ़िराक़ गोरख़पुरी, पृ.19

[93] दीवान-ए-ग़ालिब : संपादक प्रकाश पंडित, पृ.5

[94] उर्दू – भाषा और साहित्य : फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 132

[95] उर्दू – भाषा और साहित्य : फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 55

[96] उर्दू – भाषा और साहित्य : फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 59

[97] मुकद्दमा-ए-शेर-ओ-शायरी : हाली, पृ. 111

[98] उर्दू – भाषा और साहित्य : फ़िराक गोरखपुरी, पृ. 222

[99] उर्दू – भाषा और साहित्य : फ़िराक गोरखपुरी, पृ. 249

[100] उर्दू – भाषा और साहित्य : फ़िराक गोरखपुरी, पृ. 25

[101] उर्दू – भाषा और साहित्य : फ़िराक गोरखपुरी, पृ. 259

[102] उर्दू – भाषा और साहित्य : फ़िराक गोरखपुरी, पृ. 259

[103] उर्दू – भाषा और साहित्य : फ़िराक गोरखपुरी, पृ. 292

[104] दीवान-ए-ग़ालिब : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 59

[105] उर्दू के प्रसिद्ध शायर - ज़ौक़ : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 60

[106] ताबे ग़ज़ल : ताबिश देहलवी, पृ. 53

[107] राज़ो नियाज़ : राज़ बरेलवी, पृ. 18

[108] उर्दू ज़बान का संक्षिप्त इतिहास : रामनरेश त्रिपाठी, पृ.40

[109] ताबे ग़ज़ल : ताबिश देहलबी, पृ. 45

[110] उर्दू ज़बान का संक्षिप्त इतिहास : रामनरेश त्रिपाठी, पृ. 39

[111] दीवान-ए-ग़ालिब : सम्पादक प्रकाश पंडित, पृ. 105

[112] उर्दू के प्रसिद्ध शायर - ज़ौक़ : सम्पादक प्रकाश पंडित, पृ. 59

[113] उर्दू के प्रसिद्ध शायर - ज़फ़र : सम्पादक प्रकाश पंडित, पृ. 64

[114] हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ ग़ज़लें (भूमिका) : संपादक डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल, पृ. 9

[115] आजकल, मई 1981 (ग़ज़ल उत्तर और दक्षिण में), माजिदा हसन, पृ.35

[116] अमीर ख़ुसरो - भावात्मक एकता के अग्रदूत : संपादक डॉ. मलिक मोहम्मद, पृ. 140

[117] वही, पृ. 140

[118] अमीर ख़ुसरो - भावात्मक एकता के अग्रदूत : संपादक डॉ. मलिक मोहम्मद, पृ.140

[119] वही, पृ. 140

[120] वही, पृ. 140

[121] अमीर ख़ुसरो भावात्मक एकता के अग्रदूत : संपादक डॉ. मलिक मोहम्मद, पृ. 140

[122] मुक़द्दमा-ए-शेर-ओ-शायरी : मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली, पृ.108

[123] अमीर ख़ुसरो - भावात्मक एकता के अग्रदूत : संपादक डॉ. मलिक मोहम्मद, पृ. 145-146

[124] मुक़द्दमा-ए-शेर-ओ-शायरी : मौलाना हाली, पृ. 109

[125] अमीर ख़ुसरो - भावात्मक एकता के अग्रदूत : संपादक डॉ. मलिक मोहम्मद, पृ.142

[126] वही, पृ. 142

[127] अमीर ख़ुसरो - भावात्मक एकता के अग्रदूत : सम्पादक डॉ. मलिक मोहम्मद, पृ. 143

[128] - वही -, पृ. 143

[129] अमीर ख़ुसरो - भावात्मक एकता के अग्रदूत : सम्पादक डॉ. मलिक मोहम्मद, पृ. 144

[130] अमीर ख़ुसरो - भावात्मक एकता के अग्रदूत : सम्पादक डॉ. मलिक मोहम्मद, पृ.95

[131] मुक़द्दमा-ए-शेर-ओ शायरी : मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली, पृ.56

[132] मुक़द्दमा-ए-शेर-ओ शायरी : मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली, पृ. 95

[133] वही, पृ. 95

[134] उर्दू – भाषा और साहित्य : डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ.1

[135] उर्दू – भाषा और साहित्य : डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 1

[136] उर्दू-भाषा और साहित्य : डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 11

[137] ग़ज़लिका (पीठिका खण्ड से) : रुद्र काशिकेय, पृ. 7

[138] उर्दू-भाषा और साहित्य : डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 14

[139] ग़ज़लिका (पीठिका खंड से) : रुद्र काशिकेय, पृ. 8

[140] उर्दू साहित्य का इतिहास : ब्रजरत्नदास, पृ. 53

[141] उर्दू – भाषा और साहित्य : डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 19

[142] उर्दू – भाषा और साहित्य : डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 36

[143] उर्दू-भाषा और साहित्य : डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 30

[144] - वही – पृ. 30

[145] उर्दू – भाषा और साहित्य : डॉ फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 39-40

[146] - वही - , पृ. 41-42

[147] उर्दू – भाषा और साहित्य : डॉ फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 45

[148] उर्दू – भाषा और साहित्य : डॉ फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 45

[149] उर्दू – भाषा और साहित्य : डॉ फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 54

[150] उर्दू – भाषा और साहित्य : डॉ फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 16-62

[151] उर्दू-भाषा और साहित्य : डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 68-69

[152] उर्दू-भाषा और साहित्य : डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 75

[153] उर्दू साहित्य का इतिहास : ब्रज़रत्न दास, पृ. 114

[154] उर्दू और साहित्य : फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 124

[155] उर्दू और साहित्य : फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 124

[156] उर्दू के प्रसिद्ध शायर-ज़ौक़ : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 21

157 उर्दू के प्रसिद्ध शायर - बहादुरशाह ज़फ़र : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 25

158 उर्दू-भाषा और साहित्य : डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 205

159 उर्दू की बेहतरीन शायरी : प्रकाश पंडित, पृ. 85

160 उर्दू की बेहतरीन शायरी : संपादक प्रकाश पंडित, पृ. 86

161 अच्छी ग़ज़लें : सम्पादक रमेशचन्द्र श्रीवास्तव, पृ.33

162 साप्ताहिक हिन्दुस्तान (जनवरी 29 से 4 फरवरी 1978) : डॉ. नगेन्द्र, पृ. 12

163 उर्दू – भाषा और साहित्य : डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 249

164 उर्दू-भाषा और साहित्य : डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 253

165 उर्दू की बेहतरीन शायरी : सम्पादक प्रकाश पंडित, पृ. 90

166 दिररुबा ग़ज़लें : सम्पादक ए.पी. गुप्ता, पृ. 133

167 अच्छी ग़ज़लें : सम्पादक रमेशचन्द्र श्रीवास्तव, पृ. 70

168 उर्दू-भाषा और साहित्य : डॉ. फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 277

169 उर्दू की बेहतरीन शायरी : सम्पादक प्रकाश पंडित, पृ. 93

170 उर्दू-भाषा और साहित्य : डॉ.फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 289

171 उर्दू के प्रसिद्ध शायर – जिगर मुरादाबादी : स्पादक प्रकाश पंडित, पृ. 27-28

172 उर्दू के प्रसिद्ध शायर - जोश मलिहाबादी : सम्पादक प्रकाश पंडित, पृ.

173 गुले नरमा : फ़िराक़ गोरखपुरी, पृ. 103

174 उर्दू की बेहतरीन शायरी : सम्पादक प्रकाश पंडित, पृ. 107

175 नवाए-आवारा (हिन्दी संस्करण) : ताबां, पृ. 37

176 शबगस्त : अमीक हनफ़ी, पृ. 171

177 दिलकश ग़ज़लें : सम्पादक के.पी. गुप्ता, पृ. 72

178 सुलगते फूल ढलकते आँसू (उर्दू संस्मरण) : डॉ. माया राजे खन्ना बरेलवी, पृ. 182

179 मुक्तिबोध, गजानन माधव, शमशेर मेरी दृष्टि में, आजकल (जनवरी, 2011)

180 सं. अरगड़े, रंजना : सुकून की तलाश (शमशेर की शायरी), पृ. 43

181 तदेव, पृ. 20

182 तदेव, पृ. 16

183 तदेव, पृ. 45

184 तदेव, पृ. 29

[185] सिंह, शलभ श्रीराम : शमशेर की ग़ज़लगोई – सथक (जुलाई 1996), पृ. 163

[186] तदेव, पृ. 163

[187] सं. अरगड़े, रंजना : सुकून की तलाश (शमशेर की शायरी), पृ. 21

[188] तदेव, पृ. 40

[189] तदेव, पृ. 13

[190] तदेव, पृ. 17

[191] तदेव, पृ. 35

[192] तदेव, पृ. 16

[193] तदेव, पृ.19

[194] शमशेर बहादुर की ग़ज़लें - आजकल (जनवरी - 2011) आवरण - III

[195] सं. अरगड़े, रंजना : सुकून की तलाश (शमशेर की शायरी), पृ. 40

[196] तदेव, पृ. 17

[197] तदेव, पृ. 13

[198] तदेव, पृ. 33

[199] तदेव, पृ. 14

[200] जोशी, ज्योतिष, शमशेर की भाषिक सामार्थ्य, आजकल (जनवरी 2011), पृ. 24 से उद्धृत

[201] कुमार, दुष्यंत, आत्मकथन और 18 ग़ज़लें, कल्पना, 277 (जून 1975, पृ. 31)

[202] सिंह, शमशेर बहादुर, कुछ और कविताएँ, भूमिका

[203] सं. अरगड़े, रंजना : सुकून की तलाश (शमशेर की शायरी), पृ. 28

[204] तदेव, पृ. 39

[205] सारिका-दुष्यन्त स्मृति अंक – मई 76 : पृ. 47 दरख्तों के साये में झुलसे हुए दुष्यन्त नामक शरद जोशी के संस्मरण से ।

[206] सारिका-दुष्यन्त स्मृति अंक-मई 76 : पृ.58 कमलेश्वर के नाम लिखा दुष्यन्त कुमार का एक पत्रांस ।

[207] दुष्य कुमार ौर साहित्य : डॉ. हरिचरण शर्मा 'चिन्तक' : पृ. 25

[208] वही : पृ. 25

[209] सूर्य का स्वागत : दुष्यन्त कुमार, पृ. 72 प्रथम संस्करण

[210] वही : पृ. 11

[211] वही : 78-79

[212] आवाजों के घेरे : पृ. 21

[213] वही : पृ. 28

[214] वही : पृ.76

[215] दुष्यन्त कुमार और उनका काव्य : चिन्तक, पृ. 86

[216] जलते हुए वन का बसन्त, पृ. 7

[217] साये में धूप : दुष्यन्त कुमार, पृ. 13

[218] वही : पृ. 18

[219] वही : पृ. 18

[220] सब उसके लिए, मुनव्वर राना, पृ. 26

[221] वही,मुनव्वर राना, पृ. 36

[222] सुखन सराय, मुनव्वर राना, पृ. 20

[223] वही, मुनव्वर राना, पृ. 72

[224] वही, मुनव्वर राना, पृ. 87

[225] घर अकेला हो गया, मुनव्वर राना, पृ. 119

[226] वही, मुनव्वर राना, पृ. 134

[227] वही, मुनव्वर राना, पृ. 75

[228] उर्दू-हिन्दी शब्दकोश : मुहम्मद मुस्तफा खाँ 'मद्दाल', पृ.177

[229] मानक हिन्दी कोश : खण्ड दो : सम्पादक रामचन्द्र वर्मा, पृ. 61

[230] हिन्दी ग़ज़ल का स्वरूप और महत्वपूर्ण हस्ताक्षर : डॉ. वशिष्ठ अनूप

[231] उर्दू हिन्दी शब्दकोश : मुहम्मद मुस्तफा खाँ 'मद्दाल', पृ. 177

[232] ग़ज़ल का व्याकरण : कुँअर बेचान, पृ. 30

[233] - वही - , पृ.39

[234] ज़दीद उर्दू शायरी, पृ. 48

[235] तारीखे तनकीद, पृ. 101

[236] ग़ज़ल का व्याकरण : कुँअर बेचैन, पृ. 30

[237] ज़ौक और उनकी शायरी : सम्पादक सरस्वती शरण 'कैफ़', पृ. 34

[238] बेकशां : जगन्नाथ 'आजाद', पृ. 23

[239] दर्द और उनकी शायरी : सरस्वती शरण 'कैफ़', पृ. 30-31

[240] - वही -

[241] - वही -, पृ. 35

[242] मोमिन और उनकी शायरी : धर्मपाल गुप्त 'शलभ'

[243] - वही - , पृ. 38

[244] दीवाने मीर : अली सरदार जाफ़री, पृ. 30

[245] - वही -, पृ. 396

[246] - वही -, पृ. 53

[247] - वही -

[248] ग़ज़ल का व्याकरण, पृ. 50

[249] बेकशां : जगन्नाथ 'आजाद', पृ. 19-20

[250] साये में धूप : दुष्यन्त कुमार, पृ. 36

[251] दर्द और उनकी शायरी : क़ैफ़, पृ. 32

[252] साये में धूप : दुष्यन्त कुमार, पृ. 25

[253] आँगन की अलगनी : कुँअर बेचैन, पृ. 16

[254] दीवाने मीर : अली सरदार ज़ाफरी, पृ. 46

[255] साये में धूप : दुष्यन्त कुमार, पृ. 20

[256] जौंक और उनकी शायरी, पृ. 20

[257] भीड़ में सबसे अलग : ज़हीर, पृ. 90

[258] असगड़ गोडवी, पृ. 25

[259] मोमिन और उनकी शायरी : शलभ, पृ. 16

[260] फूल और अंगारे : फिराक़, पृ. 25

[261] वही, पृ. 25

[262] वही, पृ. 28

[263] दीवाने ग़ालिब, पृ. 20

[264] फूल और अंगारे : फिराक, पृ. 24

[265] साये में धूप : दुष्यन्त कुमार, पृ. 25

[266] वही, पृ. 33

[267] वही, पृ. 30

[268] दीवान-ए-मीर : अली सरदार ज़ाफरी, पृ. 44

[269] फूल और अंगारे : फ़िराक, पृ. 82

[270] धार के विपरीत : चन्द्रसेन विराट, पृ. 62

[271] भीड़ में सबसे अलग : ज़हीर कुरेशी, पृ. 60

[272] वही, पृ. 35

[273] बेकशां : जगन्नाथ आजाद, पृ. 24

[274] नज़ीर-ए-दीवान, पृ. 25

[275] चाँदनी का दुःख : ज़हीर कुरेशी, पृ. 25

[276] नज़ीर ए दीवान, पृ. 30

[277] फूल और अंगारे : फिराक, पृ. 22

[278] एक टुकड़ा धूप : ज़हीर कुरेशी, पृ. 29

[279] वही, पृ. 30

[280] नज़ीर ए दीवान, पृ. 45-46

[281] नज़ीर ए दीवान, पृ. 45-46

[282] फूल और अंगारे, पृ. 8

[283] भीड़ में सबसे अलग : ज़हीर कुरेशी, पृ. 37

[284] वही, पृ. 30

[285] हमने कठिन समय देखा है : चन्द्रसेन विराट, पृ. 23

[286] चाँदनी का दुःख : ज़हीर कुरेशी, पृ. 41

[287] फूल और अंगारे : फिराक, पृ. 9

[288] वही, पृ. 11

[289] वही, पृ. 22

[290] धार के विपरीत : चन्द्रसेन वराट, पृ. 45

[291] नाव बनता हुआ कागज : कुँअर बेचैन, पृ. 43

[292] पत्थर की बाँसुरी : कुँअर बेचैन, पृ. 43:

[293] फूल और अंगारे : फिराक, पृ. 54

[294] मोमिन और उनकी शायरी : शलभ, पृ. 30

[295] साये में धूप : दुष्यन्त कुमार, पृ. 30

[296] धार के विपरीत : चन्द्रसेन विराट, पृ. 26

[297] फूल और अंगारे : फिराक, पृ. 44

[298] दीवाने मीर : अली सरदार ज़ाफरी, पृ. 44

[299] एक टुकड़ा धूप : ज़हीर कुरेशी, पृ. 38

[300] वही, पृ. 27

[301] फूल और अंगारे : फिराक, पृ. 12

[302] बेकशां : जगन्नाथ आजाद, पृ. 22

[303] जोंक और उनकी शायरी : कैफ़, पृ.33

[304] चाँदनी का दुःख : ज़हीर कुरेशी, पृ. 41

[305] फूल और अंगारे : फिराक गोरखपुरी, पृ. 12

[306] वही, पृ. 22

[307] दर्द और उनकी शायरी, पृ. 30

[308] समन्दर ब्याहने आया नहीं है : ज़हीर कुरेशी, पृ. 22

[309] जोंक और उनकी शायरी, पृ. 41

[310] फूल और अंगारे : फिराक, पृ. 12

[311] दीवाने मीर, पृ. 52

[312] जोक और उनकी शायरी, पृ. 38

[313] चाँदनी का दुःख : ज़हीर, पृ. 40

[314] साये में धूप : दुष्यन्तकुमार, पृ. 30

[315] धार के विपरीत : विराट, पृ. 97

[316] शामियाने काँच के : कुँअर बेचैन, पृ. 78

* * * *

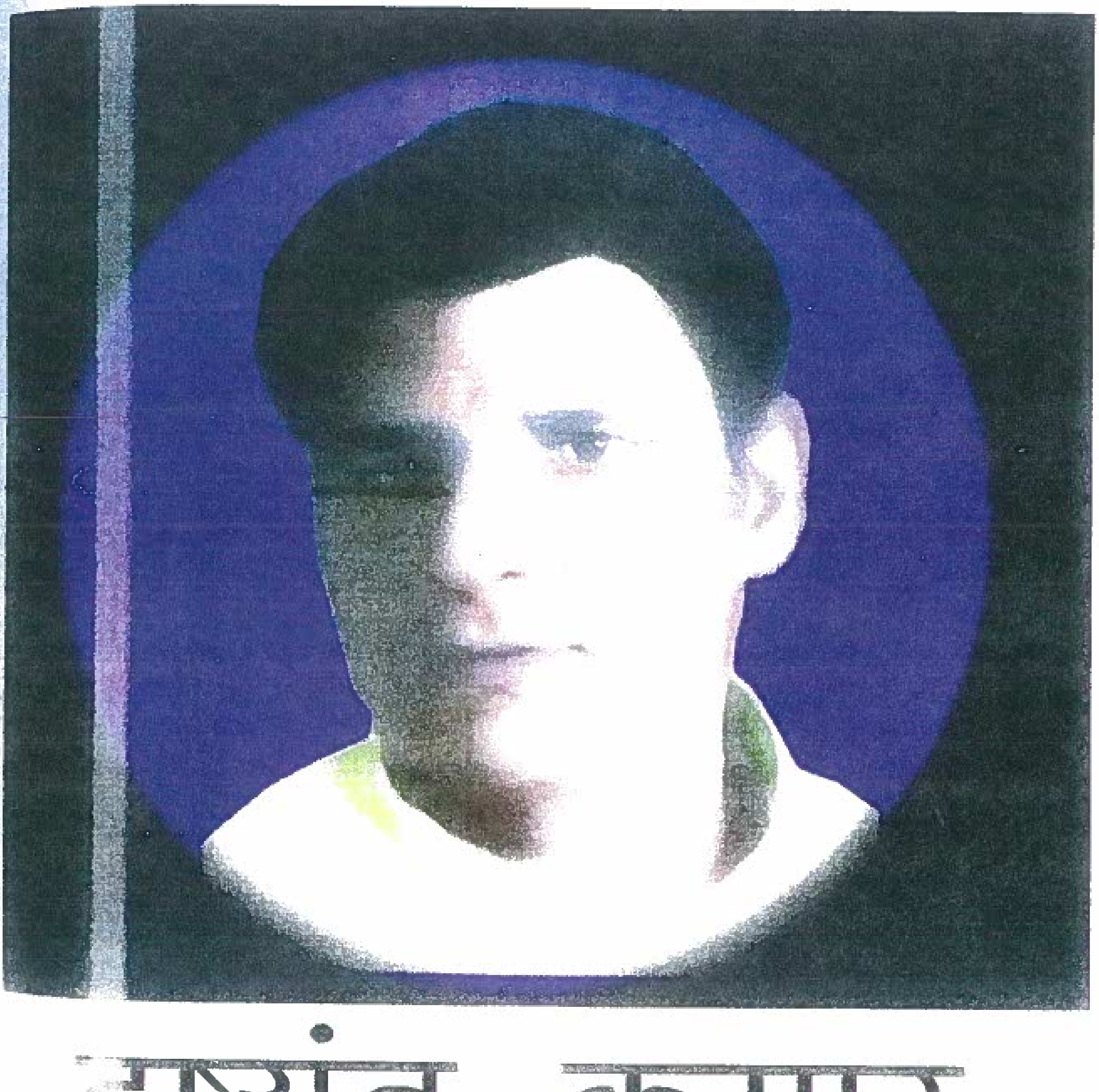

दुष्यंत कुमार

उर्दू ग़ज़लकार

[redacted]

शहरयार

प्रो. मुग़नी तबस्सुम

पूनम शर्मा

तीनों के हमसे बिछड़ने पर हिंदी संवाद सेतु पत्रिका की ओर से

हार्दिक श्रद्धांजलि

दालान में खड़ी हैं लुटेरों की टोलियाँ
भीतर की कोठरी से कोई खिलखिला न दे।
जैसे भी हो बचाये रखो खुद को ऐ कुँअर
कोई तुम्हारे खून में पानी मिला न दे।

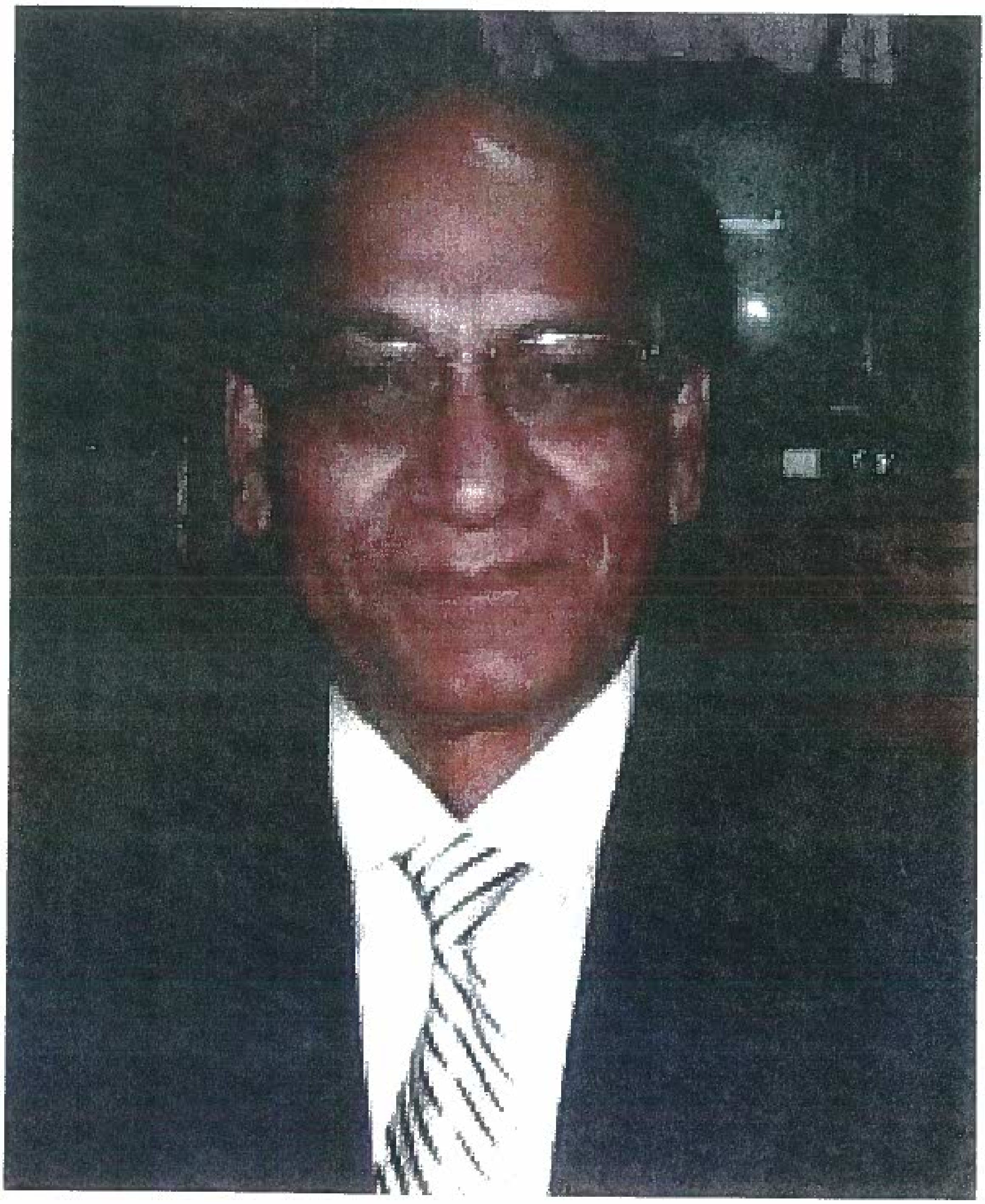

डॉ. कुँअर बैचेन

क्या कहें बात हम प्रियजनों की
दोस्त हैं, भूमिका दुश्मनों की ।
तीक्ष्ण विषदंत भी हैं इन्हीं के
बात जाहिर न इनके फनों की ।

चन्द्रसेन विराट

घर के अन्दर आपके वैभव की जगमग
देखकर
कीमती कालीन पर हम पाँव रखने से डरे

ज़हीर कुरेशी

शशि नारायण स्वाधीन

अगर मैं लिखता नहीं था तो यूँ बिखर जाता
नहीं तो आप ही बतलाओ कि मैं किधर जाता

नारायण दास जाजू

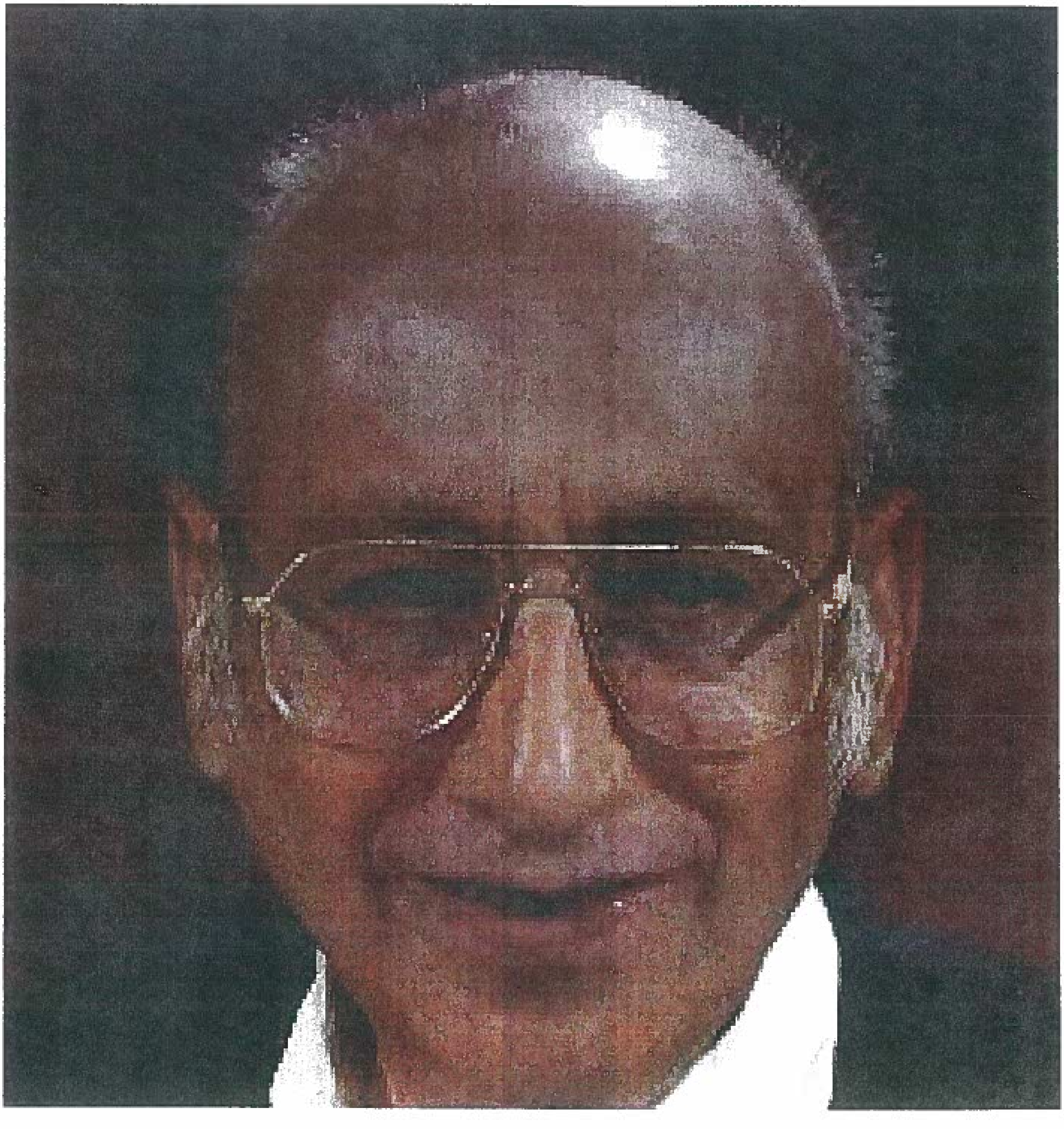

निदा फ़ाज़ली

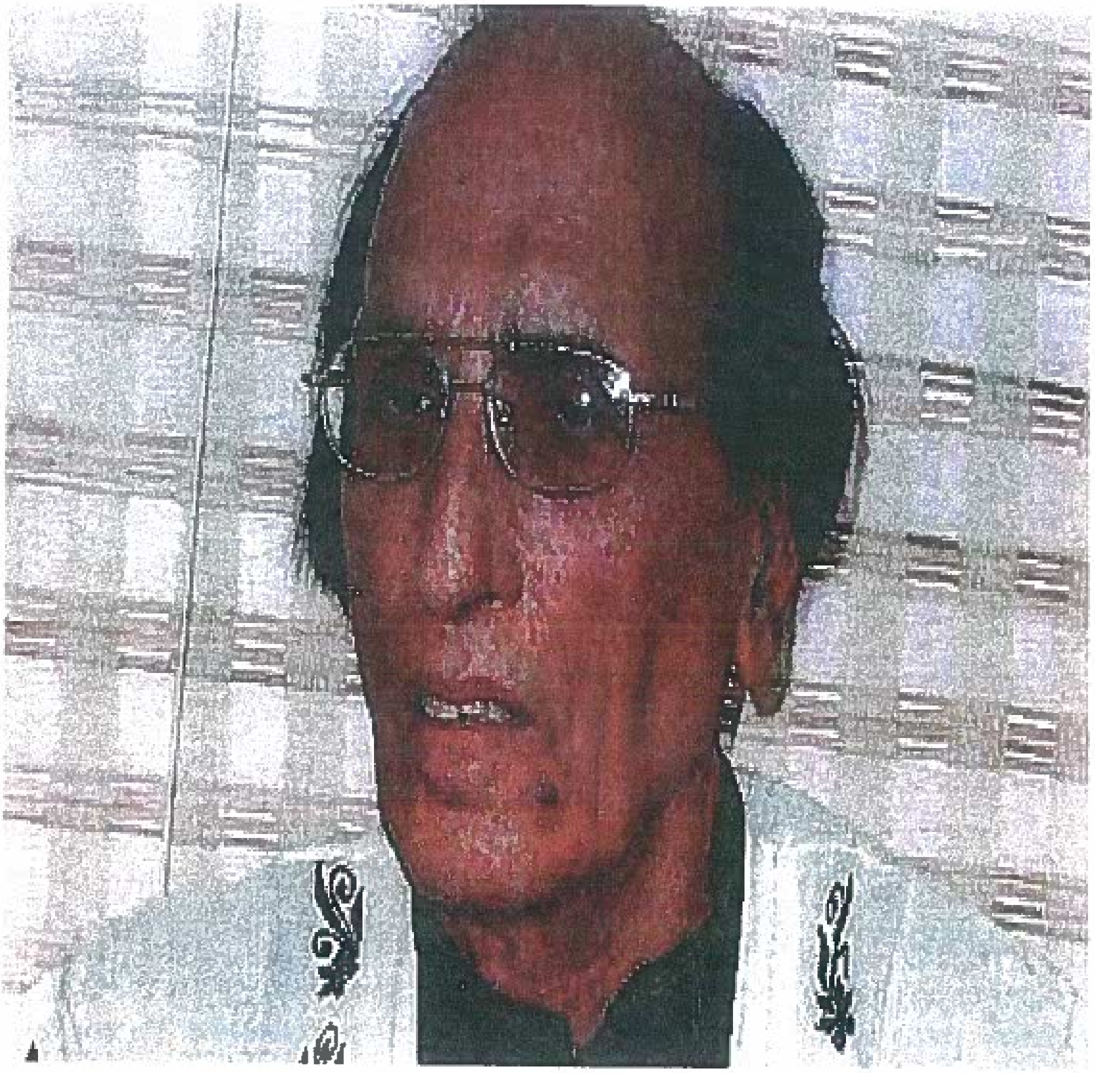

बशीर बद्र

गोपालदास नीरज

मुनव्वर राना

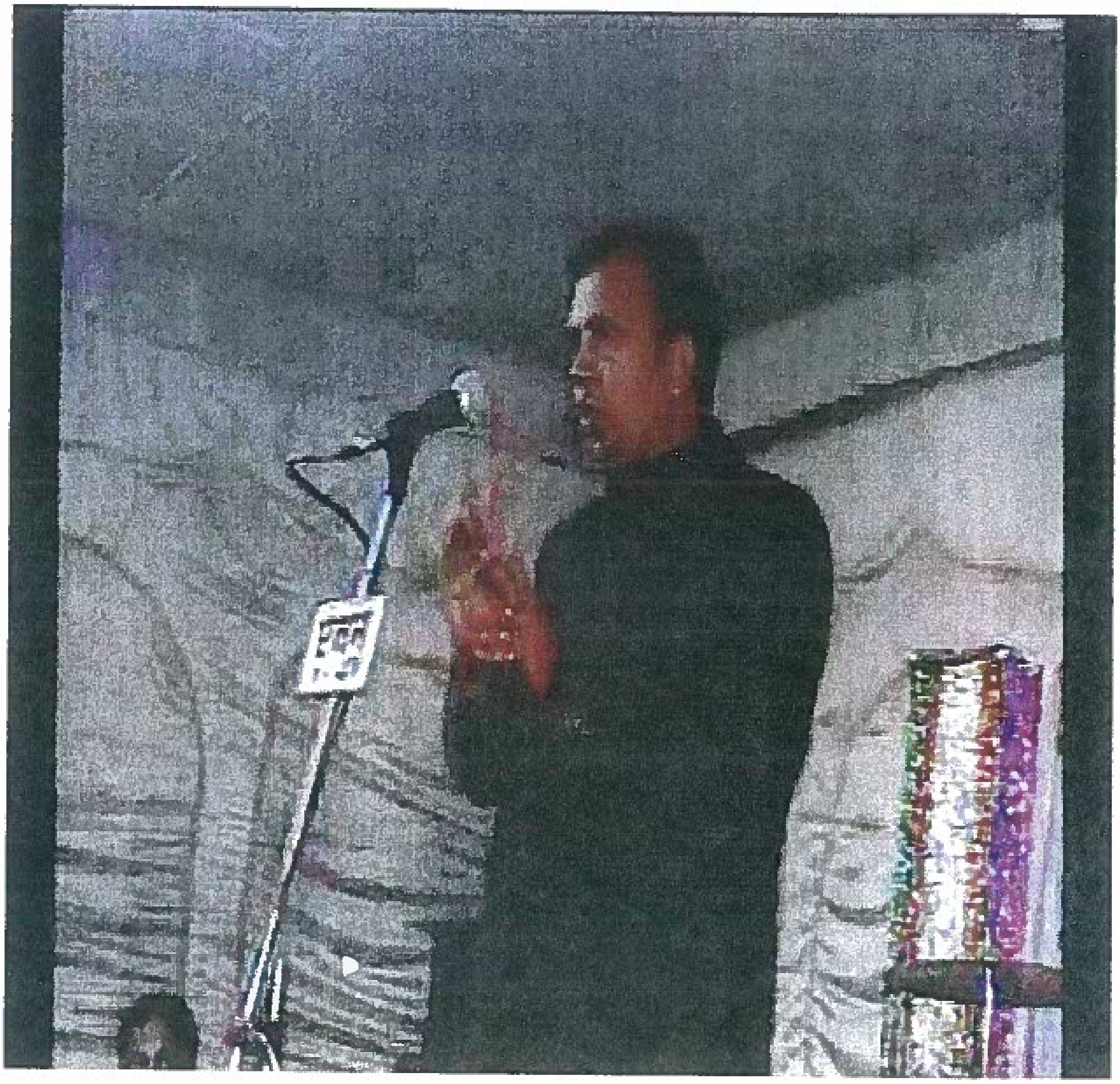

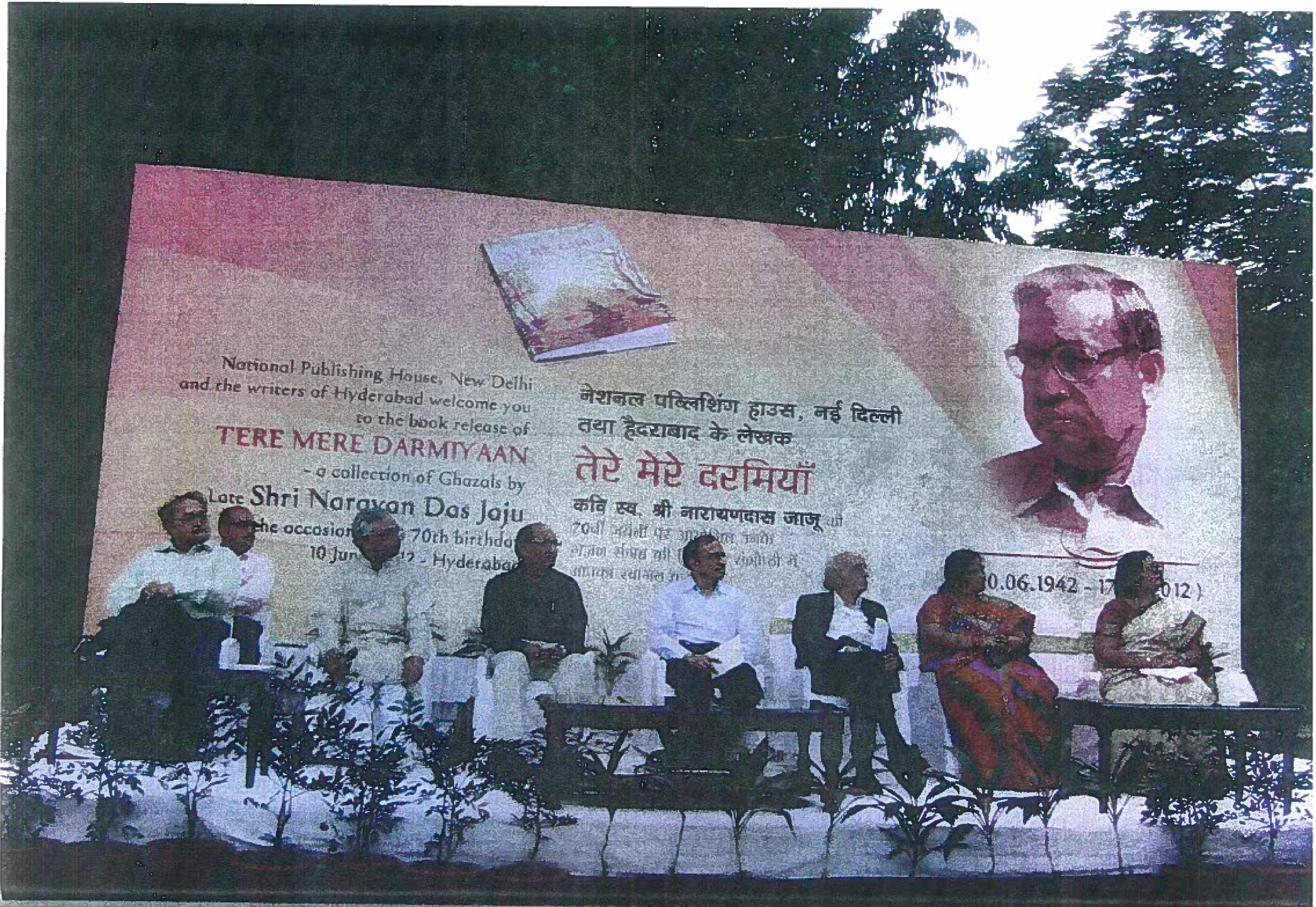
National Publishing House, New Delhi
and the writers of Hyderabad welcome you
to the book release of
TERE MERE DARMIYAAN
- a collection of Ghazals by
Late Shri Narayan Das Jaju
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
तथा हैदराबाद के लेखक
तेरे मेरे दरमियाँ
कवि स्व. श्री नारायणदास जाजू

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
तथा हैदराबाद के लेखक